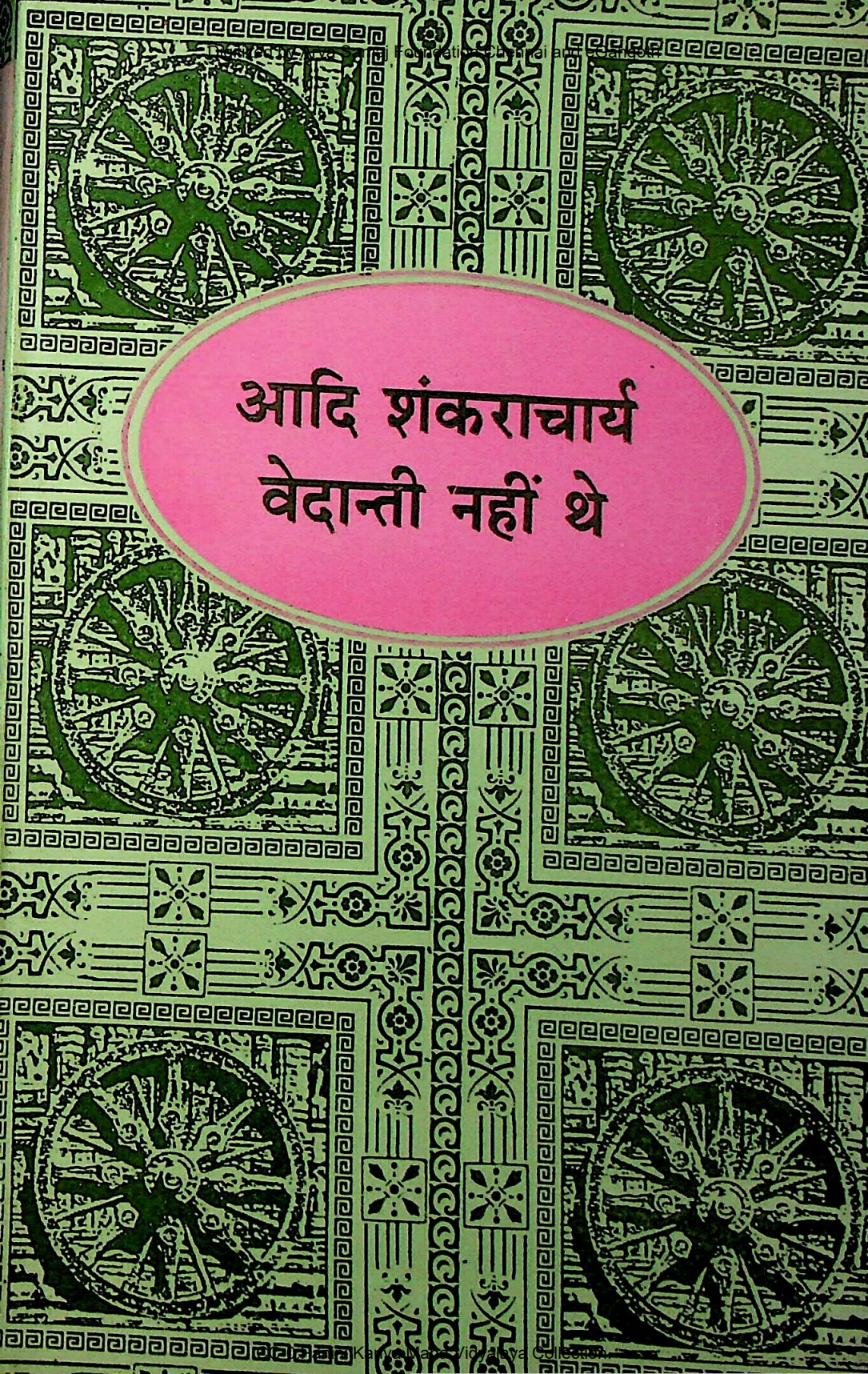


आदि शंकराचार्य
वेदान्ती नहीं थे



ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामी जी की प्रतिपादन-शैली का अपना असाधारण वैशिष्ट्य है। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्द जी ने पचास वर्ष तक शिक्षा क्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालिजों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के उपराष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य तथा विश्व वेद परिषद् के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा (सीनेट) तथा उस की अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक सांस्कृतिक शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है।

आदि शंकराचार्य
वेदान्ती नहीं थे



साम्बन्धिकां शीत
ॐ नमो भगवते

ओ३म्

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

लेखक

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती



विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६
भारत

संस्करण : १९९४

मूल्य : ४०-०० रुपये

मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स, पटपड़गंज, दिल्ली

AADI SHANKRACHARYA VEDANTI NAHEN THEY
by Swami Vidyanand Saraswati

Price : Rs. 40.00

आमुख

सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में आदि शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतमत के प्रसंग में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—“अब हमें विचारना चाहिए कि ‘जीव-ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या’ शंकराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया तो कुछ अच्छा है।”

अर्थात् जैनियों के ‘ईश्वर नहीं है’ इस मत के खण्डन के लिए ‘एक ईश्वर ही है, अन्य कुछ नहीं’ पक्ष को स्वीकार करके यदि शंकराचार्य ने जैनियों का खण्डन किया हो तो कुछ ठीक है। न्यायदर्शन में लिखा है—‘तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्’ (४-२-५०)—तत्त्वज्ञान की सम्यक् रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा-कथा का प्रयोग करे। बीज बोये जाकर उसके अंकुर फूट आने पर उनकी भले प्रकार रक्षा के लिए जैसे कँटीली झाड़ियों की बाड़ लगाई जाती है, वैसे। खेत में बीज बोकर उसकी उपज की रक्षा के लिए किसान खेत के चारों ओर काँटेदार झाड़ियों की बाड़ लगा देता है जिससे हानिकारक पशु उसे हानि न पहुँचा सकें। इसी प्रकार जल्प और वितण्डा की सहायता से तत्त्वज्ञान की रक्षा की जाती है और इस प्रकार रक्षित तत्त्वज्ञान समय आने पर उन अज्ञानी लोगों को सन्मार्ग दिखाने में सक्षम होता है जो कभी उसे सन्मार्ग दिखाने के लिए तत्पर थे। इससे उनके अज्ञान व मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होकर तत्त्वज्ञान की प्रवृत्ति की संभावना बढ़ जाती है।

सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत उपर्युक्त लेख से प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द इस बात को सहन करने के लिए सर्वात्मना तैयार नहीं थे कि शंकर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, वे शंकर के सर्वथा निजी मत रहे होंगे और जैनमत व बौद्धमत के खण्डन की भावना से भी उनके ऐसा मत स्वीकार करने की भी संभावना की जा सकती है।

अतएव जहाँ अन्य अनेक सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों के लिए ऋषि दयानन्द ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो काफ़ी कठोर प्रतीत होते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता अधिक ही हो, वहाँ शंकराचार्य के प्रति उनके विचार कोमल और आत्मीय भावना को ध्वनित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के प्रति उनकी आदर-भावना काफ़ी प्रबल थी। प्रस्तुत प्रसंग में लिखे गये उनके प्रथम वाक्य में ही इसकी झलक स्पष्ट मिलती है। उन्होंने लिखा है—“ब्रह्मचर्य से व्याकरण आदि सब शास्त्रों को पढ़के”। इस पंक्ति में शंकर के द्वारा वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था के पालन और सर्वशास्त्रगत वैदुष्य को उन्होंने स्वीकार किया है। फिर आगे के सन्दर्भों में शंकराचार्य द्वारा ‘वेदमत की स्थापना’, ‘वेदमत का प्रचार’ आदि शब्दों का निर्देश किया है। शंकर के व्यक्तित्व के विषय में उनकी उक्त भावनाओं के पोषक कतिपय अन्य सन्दर्भ इस प्रकार हैं—

१. शंकराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के पुस्तक भी पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।

२. वहाँ उस समय राजा सुधन्वा था जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ (उज्जैन नगरी) में जाकर वेदोपदेश करने लगे।

३. जब तक राजा सुधन्वा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है। जब शंकराचार्य की बात सुनी तो बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम सत्यासत्य का निर्णय अवश्य कराएँगे।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

७

४. उसमें शंकराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था ।

५. शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन था*** ।

६. जब वेदमत का स्थापन हो चुका और विद्या का प्रचार करने का विचार करते ही थे***उनका शरीर छूट गया ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ने अपने जीवन में जो कार्य किया, ऋषि दयानन्द ने उसे जैनमत के प्रतिरोध में वेदमत की स्थापना और उसके प्रचार के रूप में ही स्वीकार किया है । इससे शंकर के निजी व्यक्तित्व और उनके प्रचारित सिद्धान्तों और उनकी पृष्ठभूमि की वास्तविकता के साथ-साथ उनके प्रति ऋषि दयानन्द की आस्था का भी पता चलता है ।

परन्तु दयानन्द आचार्य-कोटि के नहीं, ऋषि-कोटि के आप्त पुरुष थे । सत्य के प्रकटीकरण के विषय में उन्होंने कभी लीपापोती या समझौते को प्रश्रय नहीं दिया । इसलिए शंकराचार्य के व्यक्तित्व, वैदुष्य और कार्य के विषय में उस प्रकार की उदात्त भावनाओं के रहते हुए भी उन्होंने शंकर के उन मन्तव्यों को सर्वथा अवैदिक माना जो आज शंकर के नाम से प्रचलित हैं । अतएव उन्होंने जैनियों के खण्डन के लिए भी अद्वैत मत को स्वीकार किये जाने को 'अच्छा' नहीं, 'कुछ अच्छा' ही बताया और इस कारण उसका प्रत्याख्यान करने में संकोच नहीं किया ।

शंकराचार्य का प्रादुर्भाव—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'वेदविषय-विचार' के अन्तर्गत ऋषि ने लिखा है—'अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति' अर्थात् वेदों का परम अर्थ (अन्तिम ध्येय या उद्देश्य) ब्रह्म ही है । ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर मोक्ष अथवा अपवर्ग की प्राप्ति मानव-जीवन का परम लक्ष्य है । भारतीय दर्शन तथा उसके आधारभूत वेद एवं वैदिक साहित्य इसी के विविध साधनोपायों का विवेचन करते हैं । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने विश्व की यथार्थता को समझकर इसकी तात्त्विक व्याख्या के लिए तीन मूलभूत सिद्धान्तों को

स्वीकार किया। जगद्रूप पहेली का हल आर्य लोग सदा त्रिवाद के सहारे करते आये हैं। उनके अनुसार संसार में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति ये तीन अनादि अथवा सनातन सत्ताएँ हैं। प्रकृति केवल 'सत्' (सदा रहनेवाली), जीव 'सच्चित्' (सदा रहनेवाला और चेतन) तथा ईश्वर सच्चिदानन्द (सदा रहने वाला, चेतन और आनन्दस्वरूप) है।

जिन परिस्थितियों में शंकराचार्य का जन्म हुआ उनके कारण उन्हें एक विशिष्ट साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। वैदिक काल में यज्ञ की भावना मानव-समाज में सर्वोत्कृष्ट समझी जाती थी। ऋग्वेद में परमात्मा को सबसे बड़ा याज्ञिक कहा गया है—'न त्वद्ध्रोता पूर्वो अग्ने यजीयान्'। उस समय यज्ञ का अर्थ आज की भाँति अग्निहोत्र अथवा विशिष्ट क्रियाकलाप नहीं था। वैदिक काल में देवपूजा, संगतिकरण और दानरूपी यज्ञ की त्रिमुखी भावना (यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु) से अनुप्राणित होकर आर्यजन समाजोन्नति के पथ पर अग्रसर होते थे। कालान्तर में इसी भावना को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए विशेष अवसरों पर समयोचित वेदमन्त्रों का उच्चारण करके वास्तविक अग्नि (अग्रणीर्भवतीति अग्निः) परमात्मा के निमित्त लाक्षणिक रूप में घृतादि पदार्थों का भौतिक अग्नि में होम किया जाने लगा। यह वास्तविक यज्ञ का उपलक्षणमात्र था। समय पाकर इस क्रियाकलापमात्र का नाम ही यज्ञ रह गया।

वैदिक आर्य काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की दुर्वृत्तियों को पशु कहा करते थे। इन मानवीय पशु-भावनाओं के निराकरणार्थ ज्ञान-साधन-तप-जपरूपी यज्ञ का उपक्रम किया जाता था। कालान्तर में वैदिक विधिवाक्यों का मनमाना अर्थ (अनर्थ) करके ईश्वरीय ज्ञान वेद के नाम पर पशुयज्ञों का अनुष्ठान होने लगा। धर्म और वेद के नाम पर होनेवाले इन क्रूर और कुत्सित कृत्यों को देखकर लोगों की आत्मा काँप उठी। लोग ऐसा तर्क-वितर्क करने लगे—'जो यज्ञों में पशु को मारकर होम करने से वह स्वर्ग में चला जाता है, तो यजमान के

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

९

माता-पिता आदि को मारकर होम करके स्वर्ग क्यों नहीं भेजता ?'—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

—सर्वदर्शनसंग्रहे चारवाकदर्शनम्

जिन वेदों के नाम पर ये प्रतारणापूर्ण कार्य किये जाते थे उनके सम्बन्ध में जनसाधारण अनुभव करने लगे कि उनके बनानेवाले धूर्त, भाण्ड और निशाचार होंगे—‘त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभण्डनिशाचराः’ (तदेव) । फिर ऐसे अनाचारों का विधान करनेवाले वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कोई कैसे मान सकता था ? और यदि ईश्वरीय ज्ञान ऐसा ही था तो ऐसे ईश्वर में किसी की आस्था कैसे बनी रह सकती थी ? ऐसे अनर्थों के प्रति विद्रोह के फलस्वरूप ही चार्वाक, बौद्ध, और जैन मतों का उदय हुआ । ये तीनों ही नास्तिक (ईश्वर और वेद में आस्था न रखनेवाले) और परमतासहिष्णु थे ।

यह थी विचारधारा जिसकी अवतरणिका में शंकराचार्य का जन्म हुआ । नास्तिक मतों के झंझावात द्वारा उन्मूलितप्राय वैदिक परम्परा को पुनः स्थापित करने की भावना से शंकराचार्य ने संन्यास लिया । उक्त तीनों मतों में से सबसे अधिक प्रचार बौद्धमत का हुआ । बौद्धमत के साथ-साथ बौद्ध विचारधारा की पुष्टि के लिए बौद्धदर्शन का भी उदय होने लगा । कुछ शताब्दियों में ही यह दर्शन विद्वज्जनों में प्रतिष्ठित हो गया । बौद्ध दार्शनिकों ने जनसाधारण में तथागत बुद्ध के लोकप्रिय मन्तव्यों के प्रचारार्थ नाना प्रकार की युक्ति-प्रतियुक्तियों का विकास किया । बौद्धों के चार सम्प्रदायों में से योगाचारसम्प्रदाय दार्शनिक विचारों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था । ये लोग ‘विज्ञानाद्वैत’ के माननेवाले थे । इनका मत था—‘आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता’—विवेकविलास ८-२७३ । अर्थात् केवल विज्ञानतत्त्व (आकारसहित विज्ञानयुक्त बुद्धि) ही सत्य है, बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं, इसलिए समस्त विश्व स्वप्नकल्पित एवं मिथ्या है ।

कहते हैं, सार्वजनिक वाद-विवादों में वेदविरोधी बौद्धों को परास्त करने के लिए तर्कमूर्ति शंकर ने न्यायानुमोदित सर्वोत्कृष्ट वाद-विवाद प्रक्रिया का परित्याग कर जल्पप्रक्रिया अपनाते हुए अपने प्रतिद्वन्द्वी (योगाचार बौद्धों) के सिद्धान्त 'विज्ञानाद्वैत' का सहारा लिया। योगाचारों के 'विज्ञानतत्त्व' को कुछ हेर-फेर कर शंकर ने 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्म' का चोला पहना दिया। बौद्धों की 'संवृति' को 'माया' का नाम दे दिया और बौद्धों के स्वप्न के सिद्धान्त को अपनाकर संसार को मिथ्या घोषित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने 'उष्ट्रलष्टिका न्याय' से सर्वत्र ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर बौद्धों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु जहाँ पहले जनता ब्रह्म के अस्तित्व के प्रति मौन रहकर केवल दृश्यमान जगत् और जीवों की सत्ता को स्वीकार करती थी, वहाँ अब 'केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य पदार्थों की कोई सत्ता नहीं, समस्त विश्व स्वप्न-परिकल्पित एवं मिथ्या है' इन विचारों की प्रगल्भता बढ़ने लगी। परन्तु शंकर के इस जल्प से शास्त्रसम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित वैदिक द्वैत- (त्रैत)-वाद की बुनियाद हिल गई। शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य, निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों आदि ने अपनी-अपनी कृतियों के द्वारा अद्वैतवादी विचारधारा को अनेक दिशाओं में प्रवाहित किया। 'Wrong means do not lead to right conclusions'—अनुचित साधनों का परिणाम कल्याणकारी नहीं हो सकता। एक पवित्र कार्य के लिए शंकराचार्य द्वारा अपनाया गया 'जल्प'^१ आज भारतीय दर्शन का 'जल्प' और यहाँ के नर-नारियों

१ वाद-विवाद में जब दोनों पक्ष अपने-अपने मन्तव्यों को मानकर चर्चा कर, प्रमाण तथा तर्क के आधार पर अपने पक्ष का साधन और पर-पक्ष का प्रतिषेध करते हैं तो ठीक निर्णय पर पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया को 'वाद प्रक्रिया' कहा जाता है। जब परस्पर विचार में वाद-प्रक्रिया की सब बातों को मानते हुए अपने पक्ष की सिद्धि और प्रतिपक्ष के खण्डन में छल, जाति

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

११

के जीवन का अभिशाप बनकर रह गया है।

बौद्धमत के पतन के बाद वैदिक धर्म के अन्तर्गत जो भी सम्प्रदाय प्रचलित हुए; उनमें से प्रत्येक के आचार्य को प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों पर भाष्य लिखकर यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता अनुभव हुई कि उनके आधार पर हमारा सम्प्रदाय ही स्थापित हुआ है और अन्य सभी सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के विरोधी हैं। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी पर साम्प्रदायिक दृष्टि से भाष्य लिखने की परम्परा चल पड़ी। लोकमान्य तिलक के अनुसार “शंकराचार्य के पूर्ववर्ती टीकाकार गीता का अर्थ ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक ही किया करते थे। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य को मान्य नहीं था। इसलिए उसका खण्डन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने के लिए ही उन्होंने गीताभाष्य की रचना की। यह बात उक्त भाष्य के आरम्भ में ही उपोद्घात में स्पष्ट कर दी गई है” (गीतारहस्य, विषयप्रवेश)।

गीता का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का अंग होना निर्विवाद है। सम्पूर्ण महाभारत की तरह गीता में भी प्रायः उसी अनुपात में प्रक्षिप्त श्लोकों का बढ़ते जाना निश्चित है। महाभारत काल में वैष्णव सम्प्रदाय का अस्तित्व नहीं था। परन्तु गीता में सबसे अधिक भरमार वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से ही की गई है। गीता के विषय में अलंकारयुक्त यह कथन प्रसिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात्—जितने उपनिषद् हैं, वे मानो गौ हैं, श्रीकृष्ण उनका दूध

और निग्रहस्थान का प्रयोग किया जाता है तो इस प्रक्रिया को ‘जल्प’-प्रक्रिया कहा जाता है। जल्प में पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों की स्थापना होती है। अपने पक्ष की स्थापना किये बिना पर-पक्ष के प्रतिषेध में ही प्रवृत्त रहना ‘वितण्डा’ कहा जाता है।

दुहनेवाले हैं, अर्जुन उस दूध का भोक्ता है और दुहा हुआ वह दूध गीतामृत है। तात्पर्य यह है कि गीता उपनिषदों का सार है। इसलिए गीता में तत्त्वतः उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना चाहिए जो उपनिषदों में ओत-प्रोत हैं। यदि कहीं इसके विपरीत हैं तो निश्चय ही वह प्रक्षिप्त है। गीता के तेरहवें अध्याय में ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख स्पष्टतः इन शब्दों में मिलता है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

इस प्रकार गीता में ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख होने से गीता की रचना का ब्रह्मसूत्रों का परवर्ती होना स्वतःसिद्ध है। लोकमान्य तिलक के अनुसार “इस समय गीता के जितने भी भाष्य उपलब्ध हैं, वे सभी साम्प्रदायिक भावना से लिखे गये हैं। इसलिए गीता परस्पर-विरोधी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की समझी जाती है। अपने अनुकूल एक विचार की पुष्टि के लिए उसके विरुद्ध दूसरे विचारों का प्रत्याख्यान करना साम्प्रदायिक लोगों का प्रयत्न रहा है। इन सबमें शंकराचार्य का सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रचलित है।”

भिन्न-भिन्न उपनिषदों में भिन्न-भिन्न ऋषियों के बतलाए हुए अध्यात्म-सिद्धान्तों का क्रमबद्ध एवं समन्वित विवेचन करने के लिए ही बादरायण व्यास ने वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इसलिए उनमें उपनिषदों से भिन्न विचारों का होना सम्भव नहीं। दर्शन और जीवन की जो रूपरेखा उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुई, वह भारतीय समाज में सदा आदर्श मानी गई है। इस देश के समस्त दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार अधिकांश में उपनिषद्-साहित्य ही रहा है। उपनिषदों की रचना जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने की उनका जीवन तपःपूत था। वे ज्ञान की खोज में निष्काम परिश्रम करते थे और समाधिस्थ हो सत्य का दर्शन कर उसे मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ अभिव्यक्त करते थे। भारतीय जीवन को अध्यात्म तथा

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

१३

सात्त्विकता की ओर प्रवृत्त करने का सबसे अधिक श्रेय उपनिषद्-साहित्य को है।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय द्वैत वा अद्वैत नहीं है, किन्तु प्रतिपाद्य न होते हुए भी वह उसका आधार अवश्य है। जब हम यह कहते हैं कि जैसे भौतिकवादी प्रकृति और शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे ही उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है तो हम प्रकारान्तर से ब्रह्म, प्रकृति तथा यथार्थ को जाननेवाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा मानने पर ही उपनिषद् की सार्थकता है। यदि संसार 'श्वोभावः' है—टिकनेवाला नहीं है तो कुछ टिकनेवाला भी अवश्य है। तभी तो 'श्वोभावः' से विमुख होकर नित्य की ओर उन्मुख होने को कहा जाता है और ये विधिनिषेधात्मक वाक्य जिसे कहे जाते हैं वह निश्चय ही नित्य ब्रह्म तथा नित्य, किन्तु परिणामी, जड़ प्रकृति दोनों से भिन्न तीसरी चेतन सत्ता जीव है। एकत्व अथवा अद्वैत की स्वीकृति के साथ ही उपनिषद् की सारी शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। उपदेश्य के बिना उपदेष्टा और उपदेश्य दोनों अन्यथासिद्ध हैं। द्वैत अथवा त्रैत की सिद्धि करना उपनिषदों का प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि वे उसे स्वतः सिद्ध मानकर चलते हैं, तथापि उपनिषत्कार यत्र-तत्र-अनेकत्र त्रिवाद का संकेत करते चलते हैं।

परन्तु उपनिषदों की अपनी एक विशिष्ट शैली है। यदि हम उसकी वास्तविकता को दृष्टि से ओझल कर दें तो उनमें अन्तर्हित सचाई को न पाकर भटक जाएँगे। दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषद् अनुभूति के ग्रन्थ हैं, इसलिए उनमें भावात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शनों और उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक-दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दे दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। तर्क वहाँ मौन नहीं तो गौण हो जाता है।

उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की अभेद-भावना के संकेत अनेकत्र उपलब्ध हैं, किन्तु वे लौकिक प्रयोगों की भाँति ब्रह्म की अतिशय महत्ता को अथवा ब्रह्मानन्द में लीन जीवात्मा के भावातिरेक को प्रकट करते हैं। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लहर में औपचारिकता से कथित वाक्यों को यथायथ ग्रहण कर ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को मानकर ही मध्यकालीन आचार्यों ने अद्वैतवाद का विशाल भवन खड़ा किया है, किन्तु ज्यों ही उन शब्दों के भीतर छिपी आत्मा का दर्शन होता है, त्यों ही वह भवन धराशायी हो जाता है। समय-समय पर विद्वानों द्वारा उपनिषदों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें सबसे पुरानी टीका शंकराचार्य की है।

शंकराचार्य को बौद्ध मन्तव्यों का निराकरण अभीष्ट था। उन्होंने अपना समस्त जीवन बौद्धमत के प्रत्याख्यान में लगाया। बौद्धदर्शन ब्रह्म की सत्ता को नकारता है, जबकि ब्रह्मसूत्रों में मुख्यरूप से उसी का प्रतिपादन है। बौद्धमत के प्रत्याख्यान के लिए ब्रह्मसूत्र का आधार उपयुक्त था। इसलिए भविष्यत् में अपनी मान्यताओं के प्रचार को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ब्रह्मसूत्रों को आधार बनाकर तदनुकूल व्याख्या अपेक्षित थी। भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मसूत्रों के रचयिता द्वापर के अन्त में होनेवाले वेदव्यास हैं। आचार्य शंकर ने इन सूत्रों के आधार पर जिस रूप में बौद्ध-जैन दर्शन का प्रत्याख्यान किया है, वह वेदव्यास के काल के बहुत बाद विकसित हुआ। इसलिए वेदव्यास का अपने सूत्रों में उस रूप में उनका प्रत्याख्यान करना उपपन्न नहीं होता। जब यह निश्चित होता है कि ये सूत्र बौद्ध-दर्शन के विकास से बहुत पहले विद्यमान थे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक भावनाओं से अभिभूत होकर अपने काल में व्यवस्थित बौद्धदर्शन के विशिष्ट वादों का सूत्रों के आधार पर प्रत्याख्यान करने की दृष्टि से किया गया सूत्रार्थ ब्रह्मसूत्रकार को अभिमत नहीं था। शंकराचार्य की इस प्रवृत्ति में स्वमत-पोषण तथा परमत-निराकरण की

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

१५

भावना प्रबल थी। इस परिप्रेक्ष्य में कतिपय सूत्रों पर प्राचीन वैदिक मान्यताओं की दृष्टि से विचार करना उचित होगा।

महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता तथा ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदव्यास हैं और इन दोनों ग्रन्थों का आधार उपनिषद् हैं, यह भी निर्विवाद है। साथ ही समस्त उपनिषद्, ईशोपनिषद् का विस्तार होने से वेदमूलक हैं। ऐसी अवस्था में वेद, उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए।

त्रिवाद का मूल

वैदिक त्रिवाद का मूल ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि ष्वजते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो भि अ चाकशीति ॥

—ऋ० १-१६४-२०

जैसे (सुपर्णा) सुन्दर पंखोंवाले, (सयुजा) परस्पर सहयोगी, तथा (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान (द्वा) दो पक्षी, (समानम्) एक ही (वृक्षम्) वृक्ष का (परिष्वजते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (पिप्पलं) उस वृक्ष के पके हुए फल को (स्वादु) आनन्द-पूर्वक (अति) खाता है, और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) सब ओर से देखता रहता है, वैसे ही (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान जीवात्मा और परमात्मा (समानं वृक्षम्) एक ही नश्वर देह का (परिष्वजते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उनमें से (अन्यः) एक = जीव पाप-पुण्य से उत्पन्न सुख-दुःखात्मक (पिप्पलं) भोग को

(स्वादु अत्ति) आनन्दपूर्वक खाता है और (अन्यः) दूसरा = परमात्मा कर्मफल को (अनश्नन्) न भोगते हुए उस भोक्ता जीव को (अभिचाकशीति) सब ओर से साक्षी के समान देखता रहता है।

यह मन्त्र अथर्ववेद (९-९-२०) में, मुण्डक० (३-१-१) और श्वेता० (४-६) में भी आया है।

जीवेश्वर-प्रतिपादक इस मन्त्र में वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीव का और केवल साक्षिरूप में ईश्वर का कथन करके जीव का ईश्वर से, ईश्वर का जीव से और इन दोनों का प्रकृति से भिन्न होना प्रतिपादित है।

शंकराचार्य ने वेद का भाष्य नहीं किया, और किया भी हो तो वह उपलब्ध नहीं है। पर वेद के प्रति उनकी आस्था अक्षुण्ण है। 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र १-१-३) के अपने भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं—“महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वाथर्वद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यगर्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।”

अर्थात्—अनेक विद्यास्थानों से उपकृत दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादिशास्त्र का योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणान्वित शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर अन्य किसी से सम्भव नहीं।

वेद के प्रति ऐसा आस्थावान् आचार्य वैदिक मान्यताओं का विरोधी कैसे हो सकता था? मुण्डकोपनिषद् में आये उक्त वेदमन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य 'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यौ आत्मेश्वरौ' लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार करते हैं। आगे कहते हैं—“(तयोः) परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

१७

(स्वाद्वृत्ति) स्वादु भक्षयति । (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्ध-
मुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरेश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति ।
प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्व- सत्तामात्रेण च
(अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम् ।”

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति, और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर, तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है—‘आत्मेश्वरौ’ इस समस्त पद में ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’ का स्पष्ट निषेध है । शंकर द्वारा यत्र-तत्र-अनेकत्र प्रयुक्त लिङ्गोपाधि, मायोपाधि, अविद्योपाधि आदि पदों का न कहीं मन्त्र में संकेत है, न उसके शांकर भाष्य में ।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द इस (वेदमन्त्र) का भाष्य करते हुए लिखते हैं—“द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ”....तयोर्मध्ये एकः जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्म-फलं स्वादु कृत्वा (अत्ति स्वादिति । (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते ।

शांकर मत का मुख्य आधार उनका ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन का भाष्य है और उनके भाष्य की भित्ति उपनिषद् हैं । इसलिए वे पदे-पदे अपने कथन की पुष्टि में उपनिषदों के सन्दर्भ उद्धृत करते चलते हैं । उपनिषदों की महत्ता उनकी सार्वभौमता में है । उनका जीवन-दर्शन एक सार्वभौम धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है । संसार के सभी मत-मतान्तर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को उस परब्रह्म की ओर प्रेरित करते हैं जो इस समस्त चराचर जगत् का मूलाधार है, किन्तु चाहनेमात्र से सब-कुछ नहीं हो जाता । गन्तव्य पर पहुँचने के लिए उचित मार्ग का अवलम्बन भी उतना ही आवश्यक है और इस मार्ग का पता वही दे सकता है जो स्वयं वहाँ तक ‘पहुँचा हुआ’ हो । उपनिषदों के ऋषियों ने जो दिशा-निर्देश किया है, वह कहीं पढ़-सुनकर नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार करके किया है । इसी

विश्वास के आधार पर शोपनहार ने कहा है कि “एक-न-एक दिन यही (उपनिषद् की शिक्षा) मानवमात्र की आस्था का केन्द्र बनेगी।”

उपनिषदों में पठित कतिपय वाक्यों के आधार पर ब्रह्म के अद्वैत-भाव का प्रतिपादन किया जाता है। पर उन वाक्यों के विषय में यह सन्देह बराबर बना रहा है कि क्या ब्रह्मातिरिक्त समस्त तत्त्वों का निषेध कर केवल एकमात्र ब्रह्मतत्त्व की सत्ता को प्रकट करने में उनका तात्पर्य है अथवा अन्य तत्त्वों के निषेध में तात्पर्य न होकर ब्रह्म में सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद न होने से उसके अद्वितीय होने को प्रकट करना है? इस सन्देह को इस बात से भी बल मिलता है कि शंकर अथवा शांकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने अनादि छह पदार्थों को स्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी अस्तित्व है। उनके मत में—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।

अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

यह श्लोक ‘सिद्धान्तलेशसंग्रह’ (अच्युत ग्रन्थमाला काशी) के पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में दिया है। ‘वेदान्तसिद्धान्तादर्श’ में पाठ इस प्रकार है—

जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भेदः।

अविद्या तच्चित्तोर्योगो वेदान्ते षडनादयः॥

यहाँ शब्दभेदमात्र है, अर्थ समान है। इस प्रकार वेदान्ती छह पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवाँ अविद्या = अज्ञान और छठा अविद्या और चेतन का योग—इनको अनादि मानते हैं। छह में अद्वैतभाव कहाँ ठहर सकता है? ऐसी अवस्था में शंकर जैसे तार्किक के अद्वैतवादी होने की कल्पना कैसे की जा सकती है?

हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उपनिषदों में आत्म-ब्रह्म की अभेदभावना के संकेतों का सर्वथा अभाव है। हमारा केवल इतना

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

१९

तात्पर्य है कि ऐसे संकेत 'देवदत्त एव कुलम्' इत्यादि लौकिक वाक्यों के समान ब्रह्म की अतिशय महत्ता को प्रकट करते हैं। उपनिषदों में पठित जिन वाक्यों के आधार पर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें कतिपय अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २-२-११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४-४-१९), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (मु० २-२-११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३-१४-१), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९), 'तत्त्वमसि' (छां० ६-८-१७), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६-२-१)।

ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को वास्तविक मानकर उनकी पुष्टि के लिए जिस दुर्ग को खड़ा किया गया है और अभेद्य समझा गया है, वस्तुतः उसमें अनेक द्वार खुले रह गये। उक्त महावाक्यों की यही स्थिति है। इन वाक्यों के आधार पर यह कहा जाता है कि दृश्य-अदृश्य जो कुछ है, सब ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु ब्रह्म और जगत् की आपाततः प्रतीयमान अभेदभावना के होते हुए भी ये वाक्य वस्तुतः ब्रह्म के सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद से शून्य होने के परिचायक हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का निषेध कर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को प्रकट करने में उनका तात्पर्य नहीं है।

वस्तुतः पूर्वापर-प्रसंग को देखे बिना किसी शब्द या वाक्य के ठीक-ठीक अर्थ को नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म की सर्वात्मकता की सिद्धि में प्रस्तुत इन वाक्यों के पूर्वापर को और प्रसंग को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी वाक्य वस्तुतः ब्रह्म की महिमा को प्रकट करने के लिए ही कहे गये हैं। स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ उपर्युक्त वाक्यों में से केवल एक 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' को स्पष्ट करते हैं। मूल उपनिषद् में इस वाक्य से अव्यवहित पूर्व का सन्दर्भ है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्'—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २-२-१०) अर्थात् उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं। तत्पश्चात् कहा है—'ब्रह्मैवेदं पुरस्तात्'—जिसके प्रकाश से ये

सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाशित हो रहे हैं, वही हमारे सामने है, वही हमारे आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओं में व्याप्त है। ब्रह्म की व्यापकता के सन्दर्भ में 'इदम्' पद पूर्वप्रकृत 'ब्रह्म' का परामर्शक है। उसे 'जगत्' का पर्याय नहीं माना जा सकता। सन्दर्भों के बीच में से न उठाकर उन्हें यथास्थान देखने पर ही ऐसे वाक्यों को समझा जा सकता है। उपनिषदों में आये ऐसे अनेक सन्दर्भों पर यहाँ समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

वेदान्तसूत्र तथा भगवद्गीता बादरायण व्यास की रचनाएँ हैं, जबकि उपनिषदें समय-समय पर हुए अनेकानेक ऋषियों की अनुभूतियों का संकलन हैं। आचार्य शंकर का मन्तव्य इन ग्रन्थों पर किये गये उनके भाष्यों में खोजा जा सकता है। किन्तु, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर आये हैं, वह वेद के विपरीत नहीं हो सकता। यदि कहीं ऐसा प्रतीत होता है तो या तो वह प्रक्षिप्त है या वह नास्तिकों के विरुद्ध जल्परूप है।

यहाँ हम प्रस्थानत्रयी में से आचार्य शंकर की मान्यताओं को उद्धृत कर यह सिद्ध करने जा रहे हैं कि मूलतः शंकर द्वैतवादी थे। नास्तिकवाद का प्रत्याख्यान करने के लिए ही उन्हें अद्वैत के जल्प का आश्रय लेना पड़ा था वह उनका निजी मत नहीं था। शंकराचार्य ने अपने जीवनकाल में चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना की थी—ज्योतिर्मठ, शारदा मठ, शृंगेरी मठ, तथा गोवर्द्धन पीठ। कांची काम-कोटि पीठ की एक मठ के रूप में विधिवत् स्थापना आचार्य ने कभी नहीं की। जीवन के अन्तिम दिनों में कामाक्षी देवी के प्रति अप्रतिम निष्ठा होने के कारण वे कांची पहुँच गये। अनेक वर्षों तक शिष्यों एवं भक्तजनों के साथ निवास के कारण वहाँ एक संस्थान स्थापित हो गया। धीरे-धीरे वह जनमानस का श्रद्धास्थल और कालान्तर में मूर्तिपूजा का केन्द्र बन गया। पर शंकराचार्य मूलतः मूर्तिपूजक नहीं थे, यह उनकी 'परा-पूजा' से स्पष्टतः सिद्ध है। 'परा-पूजा' में मूर्तिपूजा के खण्डन में दी गई शंकराचार्य की युक्तियों को

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

२१

पढ़ते समय ऐसा लगता है, जैसा हम ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश का ग्यारहवाँ समुल्लास पढ़ रहे हों। शंकर लिखते हैं—

पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।

स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥ २ ॥

निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।

अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम् ॥ ३ ॥

निर्लेपस्य कुतो गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च।

निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलङ्कारो निराकृतेः ॥ ४ ॥

जो सर्वव्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान है, उसका आवाहन (अथवा विसर्जन) कैसे किया जा सकता है? जो सर्वाधार होने से सबका आश्रय है, उसको बैठने के लिए आसन की क्या आवश्यकता है? नित्य स्वच्छ-पवित्र को पैर धोने के लिए पाद्य, मुँह धोने के लिए अर्घ्य और नित्य शुद्ध को आचमन करने के लिए जल कैसे दिया जा सकता है?

जो सदा निर्मल है उसका स्नान से क्या प्रयोजन? जिसके उदर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया हुआ है, उसे वस्त्र कैसे पहनायेंगे? जो गोत्र और वर्ण से रहित है, उसे यज्ञोपवीत कैसे पहनायेंगे?

आज उन्हीं जगद्गुरु शंकराचार्य के उत्तराधिकारी एवं तदनुयायी भक्तजन 'हम तो डूबेंगे सनम तुमको भी ले डूबेंगे' को चरितार्थ करते हुए आकण्ठ मूर्तिपूजा में डूबे हैं।

कालान्तर में जब शंकर मूर्तिपूजा में प्रवृत्त हो गये तो उन्होंने पैतरा बदला और कहने लगे—

अखण्डे सच्चिदानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि।

स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन् कथं पूजा विधीयते ॥

जो अखण्ड, सच्चिदानन्द, एकमात्र, निर्विकल्परूप और अद्वैतरूप में विद्यमान है, उसकी पूजा कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। पूजा के लिए तो द्वैतभाव (पूज्य-पूजक दो का होना) अनिवार्य है।

वस्तुतः परापूजा में शंकराचार्य ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया। सबसे पहले उन्होंने ब्रह्म (ईश्वर) को 'अखण्ड' बताया। ईश्वर एक सम्पूर्ण तत्त्व है। जब यह कहा जाता है कि जीव ब्रह्म का अंश है तो इसका अर्थ यह होता है कि एक समय था जब हम सब एक थे—ब्रह्म थे। कालान्तर में हम उससे पृथक् होकर उसके अंश होकर—टुकड़े-टुकड़े होकर रह गये। प्रकारान्तर से इसका अर्थ है कि ब्रह्म एक सावयव पदार्थ था। कालान्तर में उसका विघटन हो गया और वह टुकड़े-टुकड़े होकर संसार-भर में बिखर गया। जब ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं थी तो यह विघटन किसने किया? और यदि उसने आत्महत्या की और स्वयं अपने टुकड़े कर डाले तो प्रश्न होता है कि उसने कब, क्यों ऐसा किया? ब्रह्म अखण्ड होने से अच्छेद्य है, इससे उसके अंश नहीं हो सकते, इसलिए शंकराचार्य ने कहा—जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश—सम्पूर्ण इकाई में से काटा हुआ भाग नहीं हो सकता। 'जीव सर्वोपरि सत्ता का अंश है' का इतना ही तात्पर्य है कि जीव अंश-जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश नहीं हो सकता—“अंशं इवांशो, न ही निरवयवस्य मुख्योऽंशः सम्भवति” (ब्रह्मसूत्रभाष्य २-३-४३)

यदि जीव खण्डित ईश्वर का अंश होता तो उसमें अंशी ईश्वर के सभी गुण पाये जाते। समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। खारी समुद्र की एक-एक बूँद खारी होगी और चीनी का एक-एक दाना अनिवार्यतः मीठा और नमक का एक-एक दाना नमकीन होगा। इस प्रकार अंशी परमात्मा के सभी गुण उसके अंश जीवों में होने चाहिए थे। ऐसा न होने से जीव को परमेश्वर का अंश नहीं माना जा सकता। इसीलिए शंकर ने ईश्वर को अखण्ड कहा है। आगे (ब्र.०सू. २-३-४६) शांकरभाष्य में लिखा है—“यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमयीश्वरोऽनुभवति”—जैसे जीव संसार के दुःखों को अनुभव करता है, वैसे ईश्वर नहीं करता। तब जीव और

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

२३

ईश्वर में अंशांशिभाव कैसे रह सकता है ? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकता । ईश्वर सदा से अखण्ड है और आगे भी सदा रहेगा ।

सच्चिदानन्द = सत् + चित् + आनन्द । 'अस् भुवि' धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है । 'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सत्', अर्थात् जो सदा वर्तमान रहे—तीनों कालों में जिसका बाध न हो, उसे 'सत्' कहते हैं । ऐसी वस्तु अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि किसी कारण से उत्पन्न पदार्थ त्रिकालवर्ती अर्थात् नित्य नहीं हो सकता । इसलिए जो अनादि-अनुत्पन्न और इस कारण अविनाशी हैं, वे ही नित्य हैं । ऐसे पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति । 'चिती संज्ञाने' इस धातु से 'चित्' शब्द निष्पन्न होता है—'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति' अर्थात् जो चेतनस्वरूप है, वह 'चित्' है । ऐसे दो पदार्थ हैं—जीवात्मा और परमात्मा । 'टुनदि समृद्धौ' इस धातु से 'आनन्द' शब्द सिद्ध होता है । 'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः', अर्थात् जो आनन्दस्वरूप, वह आनन्द है । ऐसा पदार्थ केवल एक है—ईश्वर । ईश्वर ही है आनन्दस्वरूप, अन्य कोई नहीं—ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है । इस प्रकार जो सत्स्वरूप होने से 'सत्', चित्स्वरूप होने से 'चित्' और आनन्दस्वरूप होने से आनन्द, और तीनों को एकत्र करने से सच्चिदानन्द है, वह ईश्वर है । प्रकृति 'सत्' है, जीवात्मा और परमात्मा 'सच्चित्' हैं और केवल परमात्मा 'सच्चिदानन्द' है ।

'सच्चित्' होने से जीवात्मा का आसन मात्र 'सत् प्रकृति' से ऊँचा है, किन्तु 'सच्चिदानन्द' परमात्मा से नीचा है । परमात्मा की ओर बढ़ने से जीवात्मा का उत्थान या उत्कर्ष है, प्रकृति में लिप्त होने में उसका पतन या अपकर्ष है । ईश्वरोन्मुख होकर प्रकृति का समुचित एवं मर्यादित उपयोग करना मध्यम मार्ग है । 'स्व' प्रकृति का 'स्वामी' और परमात्मा का 'सेवक' बनकर रहने में उसका कल्याण है ।

अद्वितीयभावे—जो अद्वितीयभाव से वर्तमान है, अर्थात् जिसमें द्वैतभाव नहीं है, उसकी पूजा कदापि सम्भव नहीं, अर्थात् पूजा द्वैतभाव होने पर ही सम्भव है। उपासना करनेवाले आराधक और उपास्य विषय (आराध्य) के बीच जो सम्बन्ध है, वह इस बात का संकेत करता है कि दोनों में भेद है। भक्ति परमात्मा में आस्था और प्रेम का नाम है। नारद ने उसे प्रेमरूपा कहा है। शाण्डिल्य के अनुसार वह परमेश्वर के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा है—‘सा परानुरुक्तिरीश्वरे’। योगशास्त्र में इसे ‘ईश्वर-प्रणिधान’ के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार उपासक और उपास्य में द्वैत अनिवार्य है। वस्तुतः ईश्वर के प्रति आस्था और मुक्ति के लिए तीन का होना अनिवार्य है—जीवात्मा जो मुक्त होना चाहता है, प्रकृति का बन्धन जिससे वह मुक्त होना चाहता है और परमात्मा जिसके अनुग्रह से वह बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसलिए अद्वैत का प्रतिपादन करनेवालों को स्वीकार करना पड़ा—‘पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे’ अर्थात् यथार्थ में अद्वैत होते हुए भी भक्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है।

जीवात्मा और परमात्मा में अभेद, अद्वैत अर्थात् अनन्यत्व होने पर ‘भक्ति’ शब्द ही निरर्थक हो जाता है। एक ही व्यक्ति उपासक और उपास्य कैसे हो सकता है? कौन किसकी उपासना करेगा? स्वयं अपने मुँह से अपनी स्तुति करना अथवा ब्रह्म का ब्रह्म (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) की स्तुति करना क्या हास्यास्पद नहीं होगा? बन्धन से मुक्ति पाने के लिए मैं किसकी शरण में जाऊँ, क्योंकि ब्रह्म तो अविद्योपाधि से ग्रस्त होकर मेरे रूप में, बन्धन में आ गया—‘एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति’, अन्य कोई है ही नहीं। इसलिए ज्ञानमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य भक्ति की आवश्यकता एवं उपादेयता और तदर्थ द्वैत की सत्ता का निषेध कैसे कर सकते थे? ईशोपनिषद् के स्वरचित भाष्य में १५वें मन्त्र की व्याख्या में ‘सत्यधर्माय’ की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—‘सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

२५

सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्' अर्थात् तुझ सत्यस्वरूप की उपासना से मैं भी सत्यनिष्ठ हो गया हूँ।

वस्तुतस्तु दो के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक उपासक को अपनी तुच्छता की और अपने उपास्य की महत्ता की अनुभूति न हो, तब तक भक्ति-भावना जाग्रत् नहीं हो सकती। मध्वाचार्य के मत में परमेश्वर के प्रति प्रेम का अनवरत प्रवाह भक्ति है—'ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः' (मध्य-सिद्धान्तसार ५-२) अर्थात् समस्त पदार्थों से चित्त को हटाकर निरन्तर ईश्वर के चिन्तन में प्रवृत्त रहना भक्ति है। मध्व ने यहाँ प्रकारान्तर से तीनों सत्ताओं को स्पष्ट स्वीकार किया है—चिन्तक या उपासक (जीव), चिन्तन का विषय (ब्रह्म) तथा इतर समस्त पदार्थ (जगद्रूप प्रकृति) जिनसे चित्त को हटाना है।

इस प्रसंग में सन्त तुकाराम के ये वाक्य बड़े सटीक हैं—

तुका ह्यणे आम्ही असोनिया जाण।

तुज देवपण आणियेने।

आम्ही नाहीं तरी तुज कोण हे पुसले ॥

तुकाराम यां चे अभङ्ग

तुकाराम का कहना है—हे परमात्मदेव ! तुम यह समझ लो कि हम आत्माएँ हैं, इसीलिए तुम परमात्मा कहाते हो। यदि हम (जीवात्माएँ) न होते तो तुम्हें कौन पूछता ?

'संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' इस सूत्र (ब०सू० १-२-८) के भाष्य में शंकर लिखते हैं—

न तावत् सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात् शारीरवद् ब्रह्मणः सम्भोगप्रसंगः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुख-दुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य

कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत आकाशादीनामपि दाहादिप्रसंगः ।

अर्थात्—यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है, तथापि उसे सुख-दुःख-संभोग नहीं लगता । क्यों ? जीव और ब्रह्म में विशेषता (भेद) है । जीव कर्ता, भोक्ता, धर्म-अधर्म का साधन और सुखी-दुःखी है । ब्रह्म पाप आदि से मुक्त है । इसलिए भोग जीव के लिए हैं, ब्रह्म के लिए नहीं । यदि कहो कि सर्वव्यापक होने से ब्रह्म में भी भोग का प्रश्न होगा, तो कहते हैं कि नहीं । आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु वस्तु के जलने पर वह नहीं जलता ।

यहाँ शंकर ने पहले तो सूत्र की व्याख्या सूत्रकार बादरायण के आशय के अनुकूल करके अपने निजी मत की पुष्टि की, पर जैसे ही उन्हें जैनियों के मत का खण्डन करने के लिए जल्प के लिए अपनाए गए अद्वैतवाद की याद आई, वैसे ही उन्होंने पैतरा बदला और सूत्रार्थ में अपनी मान्यता को बलात् आरोपित करके कह डाला—

नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मणः उपभोगप्रसंगः मिथ्याज्ञान-निमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः ।

अर्थात्—जीव और ब्रह्म में अभेद होने पर भी जीव के भोक्ता होने से ब्रह्म भोक्ता नहीं हो जाता, क्योंकि जीवात्मा को भोग मिथ्या-ज्ञान के कारण होता है और ब्रह्म को मिथ्याज्ञान होने के कारण भोग की प्राप्ति नहीं होती ।

परन्तु सूत्र में अथवा उसके पूर्वापूर-प्रसंग में कहीं भी मिथ्याज्ञान होने या न होने का संकेत तक नहीं है । यदि सूत्रकार को यह अभिमत होता तो वह 'वैशेष्यात्' के स्थान पर 'मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्' लिख सकता था । जब उनसे कहा गया कि यदि ब्रह्म ही एकमात्र चेतन सत्ता है तो तथाकथित जीवचेतन का भोग वास्तव में ब्रह्म का ही भोग होगा । इसपर उन्होंने झुंझलाकर आपत्तिकर्ता से पूछा—“तुम कैसे कहते हो कि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतनसत्ता नहीं है ?”—इदं तावदेवानांप्रियः प्रष्टव्यः, कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसीयत इति

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

२७

(ब्र०सू० १-२८)। इसे कहते हैं, 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे'। आपत्तिकर्ता तो ब्रह्म से अतिरिक्त चेतनसत्ता को मानता है, स्वयं शंकर ही कारणविशेष से नहीं मान रहे थे।

प्रसंगोपात्त एक मन्त्र यह भी द्रष्टव्य है—

दिव्योऽह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

—मु० २-१-२

इस मन्त्र का अन्तिम भाग है—'अक्षरात्परतः परः'। इस वाक्य का शब्दार्थ है—'अक्षर' से 'पर' और उस 'पर' से 'पर'। यहाँ 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है। अक्षर का प्रकृतिवाचक होना इससे पहले सन्दर्भ (२-१-१) में स्पष्ट है। वहाँ 'सरूपाः' शब्द विशेष ध्यान योग्य है। उस सन्दर्भ में 'अक्षर' का अर्थ ब्रह्म करने पर उसके कार्यजगत् की ब्रह्म के साथ समानता माननी होगी। यह यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानता प्रत्यक्ष है। इस प्रकार 'अक्षरात्परतः परः' का अर्थ होगा—अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे भी पर ब्रह्म जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार यहाँ प्रकृति, प्रकृति से पर एवं भिन्न जीवात्मा और जीवात्मा से भी पर=उत्कृष्ट तथा भिन्न परमात्मा तीनों का स्पष्ट वर्णन है। वेदान्तदर्शन (१-२-२२) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र को उद्धृत करके कहते हैं कि "इस मन्त्र में दिये हुए 'दिव्य' आदि विशेषण जीवात्मा के नहीं हो सकते।" यहाँ तक तो उन्होंने अपने मन की बात कही, परन्तु तभी उन्हें अद्वैतवाद का स्मरण हो आया जिसके सहारे वे जैनियों आदि से संघर्ष कर रहे थे और तत्काल कह उठे—“न ह्येतद्विव्यत्वादिविशेषणमविद्या-प्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते।”

अर्थात् जीवात्मा अविद्योपाधि के कारण अपने-आपको नाम-

रूपवाला समझता है। शंकर की यह अपनी कल्पना है, क्योंकि न मन्त्र में इस बात का कोई संकेत है और न पूर्वापर प्रसंग में।

अविद्योपाधि—सबसे बड़ा जल्प

अद्वैत मत में प्रतीयमान जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या है, परमार्थ में सब एक हैं—‘एवत्वं पारमार्थिकं मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्’ (शा० भा० २-१-१४)। ब्रह्म के भी दो रूप हैं—एक नामरूप-विकारभेद की उपाधिवाला और दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त—‘द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते, नामरूप-विकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्’ (शा० भा० १-१-११)। पर्वतों में जहाँ-तहाँ बिच्छू बूटी नाम से एक बूटी होती है जिसका स्पर्श होते ही शरीर में खुजली और जलन होने लगती है। परन्तु वहाँ के रहनेवाले जानते हैं कि बिच्छू बूटी के पास ही एक दूसरी बूटी होती है जिसे प्रभावित स्थान पर रगड़ते ही पीड़ा दूर हो जाती है। जहाँ ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने से विकृतियों का उल्लेख किया है, वहीं यह भी लिखा है—‘न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृश्यवस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति’ (तदेव ३-२-११)—उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता। इसलिए ब्रह्म पर अविद्या का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—‘तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म’ (तदेव २-१-२७)। परन्तु स्वयं उपाधि का कारण अविद्या है—‘उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्’ (तदेव ३-२-१५)।

अविद्या-विषयक इन परस्पर-विरोधी वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं शंकर उसके स्वरूप का निश्चय नहीं कर पाये। शंकर तो

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

२९

अविद्या को अनिर्वचनीय—अव्याख्येय कहकर इस कठिनाई से बच निकलते हैं। परन्तु जिस अविद्या में नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव जैसी सर्वोपरि सत्ता को उपाधिग्रस्त कर अज्ञानी बना देने और अविकारी होते हुए भी जगद्रूप बना देने का सामर्थ्य है, उसे अव्याख्येय कहकर कैसे छोड़ा जा सकता है? जैसे भी हो, उसका ठौर-ठिकाना खोजना होगा। सबसे पहला प्रश्न है कि अविद्या गुण है या द्रव्य?

यदि अविद्या द्रव्य है तो उससे द्वैत उत्पन्न होगा। यदि गुण है तो वह जिस द्रव्य के आश्रित है, उसका पता लगाना होगा, क्योंकि द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकता। वस्तुतः दोनों में आश्रयाश्रयी सम्बन्ध होने से द्रव्य के बिना गुण की उपपत्ति नहीं हो सकती। चिदाभासरूप जीव स्वयं अविद्या की उपज है। यदि अविद्या न होती तो चिदाभास के रूप में जीवात्मा का अस्तित्व ही न होता। ऐसी अवस्था में अविद्या को चिदाभास के आश्रित नहीं माना जा सकता। फिर, यदि जीवात्मा को अविद्या से उत्पन्न माना जाए तो आत्माश्रय दोष के कारण हम एक दूषित चक्र में फँस जाएँगे, क्योंकि न अविद्या के बिना जीवात्मा का अस्तित्व होगा और न जीवात्मा के बिना अविद्या का। जब जीव स्वयं अविद्या की उपज है और ब्रह्म के सिवा अन्य कोई चेतन तत्त्व है नहीं तो एकमात्र ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है। किन्तु जो स्वयं नित्यप्रकाशरूप है तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' (वे०द० १-१-३) समस्त ज्ञान का आदिमूल है, उसमें अविद्या की कल्पना करना ऐसा ही है, जैसा सूर्य में अन्धकार की सम्भावना 'न ही भास्करे तिमिरस्य अवकाशः सम्भवति' (शास्त्रदीपिका, ३१३)।^१ यह कहना कि परिवर्तित ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान है, सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि अविद्या के बिना परिवर्तन सम्भव नहीं।

1. "God in light and in him there is no darkness at all."

— Bille John 5.2; Cor. 6.14

अविद्या तथा ब्रह्म का सह-अस्तित्व एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान सहज नहीं। शंकर स्वीकार करते हैं कि “ब्रह्म अविद्या की उपज नहीं है और स्वयं भ्रान्त भी नहीं है। किन्तु यह भी नहीं मानते कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई चेतनसत्ता है जो अज्ञान को उत्पन्न करनेवाला हो सकता है।” (बृहद्० उप० १-४-१०, शांकरभाष्य)।

अब प्रश्न उठता है कि अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी, अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि? यदि ब्रह्म पहले अज्ञानी हुआ तो कहना होगा कि उपाधि के बिना अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाहित अर्थात् उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पहले ब्रह्म पूर्ण ज्ञानी तथा सर्वशक्तिमान् था तो उपाधि के वश में कैसे आ गया? न उपाधि के वश में आता, न अज्ञानी होकर झंझट में पड़ता। यदि उपाधि चेतन है तो ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा चेतन तत्त्व सिद्ध हो गया। यदि वह जड़ है तो आश्चर्य है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने जड़ उपाधि के सामने हथियार डाल दिये और उसके वश में हो गया!

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय उपाधि लग गई—तो पहले कहाँ थी? कहीं-न-कहीं तो होगी ही। न होती तो कहाँ से आकर लग जाती? क्योंकि असत् कभी भावरूप नहीं होता—‘नासतो विद्यते भावः’। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी? क्योंकि गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतमत में ब्रह्म से अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं है। स्पष्टतः तथा अनिवार्यतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी उपाधि भी अनादि हुई। अनादि होने से वह अनन्त हो गई और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधिग्रस्त ब्रह्म का ही नाम यदि जीवात्मा है तो ब्रह्म के साथ जीवात्मा भी नित्य हो गया और इस प्रकार द्वैत स्वतः हो गया। उपाधि के नित्य तथा

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

३१

ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त तथा परिणामतः अज्ञानी बना रहेगा। सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त नहीं होगा और अविद्या के कारण सदा जन्म-मरण के बन्धन में रहेगा। ऐसे ब्रह्म से तो द्वैतवादियों का जीवात्मा अच्छा जो कभी-न-कभी मुक्त होने की आशा कर सकता है।

वस्तुतः अविद्या न सर्वज्ञ ब्रह्म का गुण है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति का। पूर्णविद्या चेतन ब्रह्म का धर्म है, विद्याशून्यता जड़ प्रकृति का, और अल्पज्ञता जीवात्मा का जो ईश्वर की भाँति ज्ञानी तो है, किन्तु उसके समान सर्वज्ञ नहीं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म से पृथक् जीव की अपनी सत्ता है। न वह ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब है, न उसका अंश और न ब्रह्म की अविद्या का परिणाम। अविद्या का नाश होने पर वह ब्रह्म को प्राप्त कर उसके आनन्द में लीन हो जाता है, पर वहाँ पर भी उसकी सत्ता बराबर बनी रहती है। जीवात्मा ज्ञान का अर्जन करता है, जबकि सर्वज्ञ होने से परमात्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। दोनों न कभी एक थे, न हैं और न होंगे, क्योंकि स्वयं आचार्य शंकर के अपने शब्दों में 'न ह्यपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति'—उपाधि के कारण भी किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता।

जगद्रूप पहेली का हल आर्य लोग सदा वैदिक त्रैतवाद के सहारे करते आये हैं। उनके अनुसार संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन अनादि तत्त्व अथवा तीन सनातन सत्ताएँ हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं—ब्रह्मसूत्रकार का यह आशय रहा हो, इसका कोई संकेत सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता। आगे के पृष्ठों में हमने वेदान्त-सूत्रों, उपनिषदों तथा भगवद्गीता के आधार पर यह बतलाने का प्रयास किया है कि आदि शंकराचार्य का निजी मत त्रैवाद ही था। अद्वैतमत की आड़ में उन्होंने नास्तिकों का शिकार किया और पूर्ण सफलता प्राप्त की।

३२

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

इस लघु ग्रन्थ को तैयार करने में हमने आचार्य उदयवीर शास्त्री के ग्रन्थों से विशेष सहायता ली है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

डी-१४।१६, मॉडल टाउन, दिल्ली

विद्यानन्द सरस्वती

रामनवमी २०५१ विक्रमी

१९ अप्रैल, १९९४ ईसवी

वेदान्त दर्शन

सबसे पहले हम यहाँ अद्वैतमत के मूलाधार वेदान्तदर्शन के कतिपय सूत्र शांकर भाष्यसहित विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। शंकराचार्य के द्वैतवादी होने की पुष्टि में, मानो निष्कर्षरूप, अन्तिम चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद का निम्न १७वाँ सूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं निश्चायक है—

१—जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ।

शंकरभाष्य—जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति । जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य । कुतः ? पर एव हीश्वरो जगत्पारेऽधिकृतः । तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्-संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात् ।

अर्थात्—जगत् के उत्पत्त्यादि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है। क्यों ? जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्माओं का सहयोग अथवा सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में परस्पर विरोध खड़ा हो जाय—कोई सृष्टि को बनाए रखना चाहे और कोई प्रलय करना चाहे ।

रामानुज भी शंकर के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—“एते च जगत्पतित्वजगद्विधरणसर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि

न कथञ्चिद् भवन्ति ।” अर्थात् सृष्टि की उत्पत्त्यादि तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीव को मुक्तावस्था में भी प्राप्त नहीं होते ।

मोक्षदशा में जीवात्मा और परमात्मा के भेद को स्पष्ट करते हुए रामानुज इतना और लिखते हैं—“मोक्षावस्था में आत्माओं में, दो अंशों को छोड़कर, सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सब पूर्णताएँ विद्यमान रहती हैं । वे आकार में अणु-परिमाण हैं, जबकि सर्वश्रेष्ठ आत्मा विभु—सर्वव्यापी है । जीवात्मा प्रभु के रचे जगत् का अनुभव कर सकता है, किन्तु जगत् की सृजनात्मक गतिविधियों के ऊपर उसका कोई वश नहीं है, क्योंकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है ।”

—रामानुजः ब्रह्मसूत्रभाष्य ४-४-१३-१५, १७

शंकराचार्य और रामानुज दोनों के लेख से इतनी बातें विस्पष्ट हैं—

१—वेदान्तदर्शन के रचयिता वेदव्यास के ग्रन्थ के आरम्भ में (१-१-२) ब्रह्म का लक्षण करते हुए लिखा है—‘जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं’—‘जन्माद्यस्य यतः’ । प्रस्तुत सूत्र में वेदव्यास और उसके भाष्यकार शंकर और रामानुज स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने पर भी मुक्तात्मा सृष्टि की उत्पत्ति आदि कार्य नहीं कर सकता । यदि जीवात्मा ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता है तो उसे सृष्टि-निर्माण आदि में असमर्थ क्यों बताया जाता ? अद्वैतमत में जो स्वरूपतः—मूलतः ब्रह्म था, और यदि उपाधि के कारण कुछ कसर थी भी तो उपाधि से छूटकर मोक्षावस्था में ब्रह्म में लय हो जाने पर पूरी हो गई, तब उससे किसी प्रकार की अयोग्यता क्यों रह जाए ? रामानुज के अनुसार तो जगद्व्यापार से अतिरिक्त मोक्षावस्था में भी एक और अन्तर बना रहता है—जीव अणु-परिमाण होने से एकदेशी बना रहता है, जबकि ब्रह्म महत्परिमाण या विभु होने से सर्वव्यापी होता है । वस्तुतः जीव न कभी ब्रह्म था, न अब है, और न कभी बन सकेगा ।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

३५

२—जीवात्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत नहीं है। यदि ऐसा होता तो अविद्या का नाश होने से मोक्षलाभ होने पर उसका अस्तित्व मिट जाना चाहिए था। परन्तु शंकर के लेख से स्पष्ट है कि मोक्ष-दशा में जब वह अविद्योपाधि से मुक्त हो चुका होता है, तब भी ब्रह्मलोक में उसका भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। इतना ही नहीं, सब आत्माएँ पृथक्-पृथक् अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि जीवात्मा का अस्तित्व और ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत है और आत्मा ब्रह्म का आभासमात्र है जो अविद्योपाधि के कारण है? अन्तःकरण के नष्ट हो जाने पर भी जीवात्मा का अस्तित्व बने रहने से स्पष्ट है कि जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए अन्तःकरण पर आश्रित नहीं है। अतएव अन्तःकरणोपाधि का राग आलापना निरर्थक है।

३—जगत् के उत्पत्त्यादि कार्य में मुक्तात्माओं का सहयोग ही नहीं, उनका सान्निध्य भी परमेश्वर को असह्य है, क्योंकि उनके वैमत्य या मतभेदों के कारण उसे अपने उत्पत्त्यादि कार्य में बाधा पड़ने की आशंका है। ऐसा भी प्रतीत होता है, परमेश्वर में मुक्तात्माओं को समझा-बुझाकर उनके मतभेदों को दूर करने अथवा उनके मतभेदों के रहते, अपना काम करते रहने का सामर्थ्य भी नहीं है। इसलिए इस विषय में उसने अपने सर्वाधिकार सुरक्षित रखे हैं।

४—परमेश्वर के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति तथा परस्पर मतभेद बने रहने से उनका व्यवहार लोकवत् बना रहता है जो उनके मोक्षदशा में भी अविद्या से मुक्त होने पर प्रश्नचिह्न लगा देता है।

५—समुद्र में नदियों की भाँति (सरित्सागरवत्) मोक्षावस्था में ब्रह्म में आत्मा का लय नहीं होता। समुद्र में मिल जाने पर नदियों का व्यष्टिरूप समाप्त हो जाता है। यदि इसी प्रकार ब्रह्म में आत्माओं का लय होता तो उस अवस्था में न उन्हें 'अनेक' कहा गया होता और न

उनमें परस्पर विरोध का प्रश्न उठता ।

६—जीवों को ब्रह्म का अंश अथवा चिंगारियों के सदृश भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के अंशों में समानता होने से उनमें परस्पर भेद की कल्पना नहीं की जा सकती ।

७—(अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जानेवाले राजकुमार की तरह) अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी जीवात्मा न केवल 'ब्रह्म न भवति' अपितु 'साम्यमपि नोपैति' । इसीलिए ब्रह्म को स्वरूपतः प्राप्त अनेक अधिकारों से उसे वंचित रहना पड़ता है । वस्तुतः ब्रह्मलोक में रहते हुए भी उसे द्वितीय श्रेणी के नागरिक का जीवन बिताना पड़ता है । वह विशेषाधिकार-सम्पन्न ब्रह्म की बराबरी कदापि नहीं कर सकता ।

इस सूत्र (४।४।१७) में सूत्रकार बादरायण व्यास ने और उसके भाष्य में शंकराचार्य ने जो कुछ कहा है, उसके रहते जीव और ब्रह्म में किसी भी अवस्था में तादात्म्य की कल्पना न होने से वे द्वैतवादी ठहरते हैं । अब हम क्रमशः अन्य अनेक सूत्रों के शांकरभाष्य के आधार पर उनके द्वैतवादी होने पर विचार करते हैं ।

२—अथातो ब्रह्माजिज्ञासा ॥ १-१-१

शांकरभाष्य—ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा । जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासा । 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (तैत्ति० ३।१)

भाषार्थ—जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है । जिज्ञासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा होती है । यहाँ जिज्ञास्य ब्रह्म है । जिज्ञासा को जैसे जिज्ञास्य की अपेक्षा होती है, वैसे ही उसे जिज्ञासु की भी अपेक्षा होती है । जिज्ञासु कोई नहीं होगा तो जिज्ञासा किसे होगी ? इस प्रकार जिज्ञासु, जिज्ञास्य और जिज्ञासा तीन के बिना व्यवहार नहीं होगा । आचार्य ने तीनों को स्वीकार किया है । 'सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

३७

नाहस्मीति’—अपने अस्तित्व के विषय में किसी को शंका नहीं होती, कोई यह नहीं सोचता कि मैं नहीं हूँ। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को होगी जो उसे नहीं जानता, किन्तु प्रयत्न करने पर जान सकता है। जिज्ञासु और जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे, यह अपने-आपमें कितना उपहासास्पद है! इसलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से अतिरिक्त चेतन, किन्तु अल्पज्ञ जीव ही हो सकता है। जिस ब्रह्म को जीवात्मा जानना चाहता है, उसका परिचय सूत्रकार ने इन शब्दों में दिया है—

३—जन्माद्यस्य यतः । १-१-२

शांकरभाष्य—जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत्—‘यतो इमानि भूतानि जायन्ते० (तै० ३-१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसम्भवात् ।

भाषार्थ—जन्म, उत्पत्ति है आदि में जिनके, वे जन्मादि । यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है । उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय यह समास का अर्थ है । श्रुतिनिर्देश से तथा वस्तुस्थिति की अपेक्षा जन्म आदि हैं । श्रुतिनिर्देश है—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०’ इस वाक्य में उत्पत्ति, स्थिति और नाश का क्रम दिखाई देता है । वस्तु-स्थिति भी ऐसी है कि जन्म से सत्ता को प्राप्त धर्मों की ही स्थिति और प्रलय संभव है । ब्रह्म के जिज्ञासु को यही कहकर उसका परिचय कराया गया है कि इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय का जो नियामक चेतन तत्त्व है, वही ब्रह्म है । उत्पाद्य से उत्पादक की सत्ता पृथक् होती है । बढ़ई लकड़ी से मेज़ बनाता है, पर स्वयं मेज़ नहीं बन जाता । इस प्रकार ब्रह्म से जगत् की और जगत् से ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वतः सिद्ध है । सच्चिदानन्द ब्रह्म ने जिस सृष्टि की रचना की है, वह यथार्थ है ।

यदि जगन्मात्र भ्रान्ति है तो इसका अर्थ होगा कि जगत् की रचना मात्र भ्रान्ति की रचना है, उसे धारण करना मात्र भ्रान्ति को बनाये रखना है और उसकी प्रलय भ्रान्ति का अन्त है। इस प्रकार ब्रह्म, मात्र भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण सिद्ध होगा। एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। फिर, यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं थी तो उसने इस भ्रमरूप जगत् का निर्माण क्यों और किसके लिए किया? वह स्वयं, अपने को भ्रमित करने के लिए भ्रमजाल रचेगा, इसपर कौन विश्वास करेगा?

४—शास्त्रयोनित्वात् ।। १-१-३

शांकरभाष्य—महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म ।

भाषार्थ—अनेक विद्यास्थानों से उपकृत दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का योनि (कारण) ब्रह्म है।

सर्वज्ञ ब्रह्म को ऋग्वेदादि के रूप में ज्ञान देने की आवश्यकता अपने लिए कैसे हो सकती है? 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—इस दृश्यमान जगत् की रचना जीवों के भोग और अपवर्ग के लिए की गई है, स्वयं ब्रह्म के लिए नहीं। इसी प्रकार ऋग्वेदादि का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न अल्पज्ञ जीवों के लिए हुआ है। यजुर्वेद में इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—'वाचं कल्याणीमावदनि जनेभ्यः' (यजुः० २६-२)।

इस प्रकार उक्त दो सूत्रों में सृष्टि के भोक्ता और ज्ञान के प्रापक के रूप में परमात्मा से भिन्न जीवात्मा तथा उसके भोग्य के रूप में जगत् की सत्ता को स्वीकार किया है। यही शास्त्रोक्त त्रैतवाद का स्वरूप है।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

३९

५—नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१-१-१६

शांकरभाष्य—इतश्चानन्दमयः पर एकात्मा, नेतरः। इतरः ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—‘सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति’...इदं सर्वमसृजत।’ सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते।

भाषार्थ—और इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर नहीं। ‘इतर’ अर्थात् ईश्वर से अन्य संसारी जीव, ऐसा अर्थ है। आनन्दमय शब्द से जीव का ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसमें आनन्दमय की उपपत्ति नहीं है। आनन्दमय को प्रस्तुत कर श्रुति में कहा है—‘उसने कामना की कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न करूँ’...उसने यह सब उत्पन्न किया। यह सृष्टि को उत्पन्न करना परमात्मा से भिन्न जीव में उपपन्न नहीं होता।

शंकराचार्य ने वेदान्तदर्शन (४४-१७) में कितने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सृष्टि की उत्पत्ति आदि करने का अधिकार परमात्मा को ही है, जीवात्मा को नहीं।

६—भेदव्यपदेशाच्चा ॥१-१-१७

शांकरभाष्य—इतश्च नानन्दमयः संसारी, यस्मादानन्दमयाधिकारे—‘रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ (तै० २-७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति।’

भाषार्थ—इस कारण भी संसारी जीवात्मा को आनन्दमय नहीं कहा गया है, क्योंकि आनन्दमय के प्रकरण में कहा गया है ‘वह रस है, उसे पाकर ही जीव आनन्दमय होता है।’ यह श्रुति संसारी जीव का तथा आनन्दमय परमात्मा का भेद से कथन करती है। लब्धा स्वयं लब्धव्य (प्राप्य) नहीं होता।

७—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१-१-१९

शांकरभाष्य—इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः । यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य तद्योगं शास्ति । तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः, मुक्तिरित्यर्थः । तद्योगं शास्ति शास्त्रम् ।

भाषार्थ—इस कारण भी प्रधान (प्रकृति) अथवा जीव के लिए आनन्दमय शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र इस प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) जीव का इस प्रकृत आनन्दरूप ब्रह्म में योग बतलाता है । आत्मा (ब्रह्म) से योग का अर्थ है मुक्ति ।

यहाँ मुक्ति में अर्थात् परमार्थ में जीवात्मा का परमात्मा से योग कथन किया गया है, परमात्मा में विलय का नहीं । योग सदा दो भिन्न वस्तुओं में होता है । इससे जीवात्मा तथा परमात्मा का दो पृथक् तत्त्व होना स्वतः सिद्ध है ।

८—अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥१-२-३

शांकरभाष्य—पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तु शब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, नतु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः । यत्कारणं “सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान्मृथिव्याः” इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आज्ञस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति । सत्यम्, शरीरे भवति, नतु शरीर एव भवति; ‘ज्यायान्मृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्’ (छा० ३-१४-२) ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ (गौड० ३-३) इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ।

भाषार्थ—पूर्व-सूत्र में विवक्षित गुणों (सत्यकामत्वादि) की ब्रह्म में

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

४१

उपपत्ति दिखलाई गई है। अब इस सूत्र से उन गुणों की शारीर = जीव में अनुपपत्ति कही गई है। सूत्रस्थ 'तु' पद का अर्थ निश्चय है। पूर्वोक्त सर्वात्मत्व-न्याय से ब्रह्म ही मनोमयत्वादिगुणविशिष्ट है। शारीर = जीव मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट नहीं है, क्योंकि 'सत्यसङ्कल्प, आकाशात्मा, इन्द्रियरहित, नित्यतृप्त, पृथिवी से महान्' इस प्रकार के गुण जीव में मुख्य रूप से उपपन्न नहीं होते। 'शारीर' का अर्थ शरीर में रहनेवाला है। परन्तु ईश्वर भी तो शरीर में रहता है। यह ठीक है कि ईश्वर 'शरीर' में रहता है, किन्तु 'शरीर में ही' रहता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म पृथिवी से भी महान्—अन्तरिक्ष से भी महान् है, आकाशवत् सर्वगत व नित्य है। इस प्रकार ब्रह्म में व्यापकत्व का श्रवण होता है। जीव तो 'शरीर में ही' रहता है, क्योंकि भोग के आश्रयभूत शरीर को छोड़कर अन्यत्र उसकी स्थिति नहीं है।

'शारीर' शब्द के निमित्त से यहाँ शंकर ने कितने स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म में भेद दर्शाया है।

९—कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च—१-२-४

शांकरभाष्य—इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः। यस्मात्कर्म-कर्तृव्यपदेशो भवति। 'एवमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' (छां० ३-२४-४) इति। एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यामात्मानं कर्मत्वेन—प्राप्यत्वेन व्यपदिशति। अभिसम्भवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन—प्रापकत्वेन अभिसम्भवितास्मीति, प्राप्तास्मीत्यर्थः। न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः। तत्रोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः।

भाषार्थ—इससे भी जीव मनोमयत्वादि गुणों से युक्त नहीं है। 'एतत्' यह पद प्रकृत मनोमयत्वादि गुणों से युक्त उपास्य आत्मा का कर्मरूप से—प्राप्यरूप से व्यपदेश करता है। 'अभिसम्भवितास्मि' यह पद उपासक जीवात्मा का कर्तारूप से—प्रापकरूप से उपदेश करता

४२

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

है। 'अभिसम्भवितास्मि' (उपास्य) को प्राप्त करूँगा। एक में ही कर्मकर्तृ व्यपदेश युक्त नहीं है। इस प्रकार उपास्य-उपासक भाव भी भेदाश्रित है। इससे भी जीव मनोमयत्वादि गुणों से युक्त न होने के कारण उपास्य नहीं है।

१०—स्मृतेश्च—१-२-६

शांकरभाष्य—स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८-६१)।

गीता (शंकर गीता को स्मृति-ग्रन्थों के अन्तर्गत मानते थे) के इस वचन से स्मृति के आधार पर भी जीवात्मा और परमात्मा में भेद स्पष्ट है—व्याप्य तथा व्यापक के एक न होने से।

११—सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥१-२-८

शांकरभाष्य—व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसम्भोगोप्यविशिष्टः प्रसज्येत, एकत्वाच्च। न हि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः सम्भोगप्राप्तिरिति चेत्—न, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ताभोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि त्वं संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः।

भाषार्थ—आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म का सब प्राणियों के हृदय के साथ सम्बन्ध होने तथा चैतन्यरूप होने के कारण ब्रह्म और जीव में भेद नहीं है, इससे जीव के समान ब्रह्म में भी सुख-दुःखादि का सम्भोग प्रसक्त होगा और श्रुतिप्रतिपादित एकत्व—'नान्योऽतो' (इस

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

४३

परमात्मा से अतिरिक्त विज्ञाता नहीं है) इत्यादि से भी यह निश्चय होता है कि परमात्मा से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है। अतः जीव और ब्रह्म के एक होने से ब्रह्म को ही सम्भोग की प्राप्ति होगी, यदि ऐसा कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में विशेष (अन्तर) है। सब प्राणियों के हृदय के साथ सम्बन्ध होने तथा चैतन्यरूप होने से भी जीव के समान ब्रह्म में संभोग का प्रसंग नहीं है, क्योंकि वैशेष्य है। निश्चय ही जीव और ब्रह्म में विशेष (अन्तर) है। एक—जीव कर्ता, भोक्ता, धर्माधर्म साधनवाला तथा सुख-दुःखवाला है। और दूसरा—ब्रह्म इस (जीव) से विपरीत पापराहित्यादि गुणों से युक्त है। इस प्रकार इन दोनों में विशेष (अन्तर) होने के कारण एक—जीव को सुख-दुःख आदि का भोग प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। और यदि कहो कि वस्तु की सामर्थ्य का आश्रम किए बिना सान्निध्यमात्र (ब्रह्म के सर्वव्यापक होने) से ब्रह्म में सम्भोग की प्राप्ति होगी तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि आकाश के सर्वव्यापक होने पर भी वस्तु के जलने पर वह नहीं जलता।

यहाँ कितनी ऊहापूर्वक और कितना स्पष्ट विवेचन किया गया है जीव और ब्रह्म के भेद का ! इसके पढ़ने के बाद शंकराचार्य के द्वैतवादी होने में क्या सन्देह रह जाता है ?

१२—शब्दविशेषात् ॥१-२-५

शांकरभाष्य—इतश्च शारीरादन्यो यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—‘यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवयमयमन्तरात्मनुरुषो हिरण्मयः’ (शत० १०-६-३-२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते।

भाषार्थ—शतपथब्राह्मण में बताया है कि जैसे धान, जौ, सवाँ

अथवा सवाँ का चावल छिलके के अन्दर रहता है, वैसे ही हिरण्मय पुरुष (परमात्मा) अन्तरात्मा (जीवात्मा) में रहता है,—इस वाक्य में अन्तरात्मा जीवात्मा का सप्तमी विभक्ति में तथा हिरण्मय पुरुष परमात्मा का प्रथमा विभक्ति से निर्देश है। यह शब्दभेद दोनों की भिन्नता का द्योतक है।

इस प्रकार सूत्रकार बादरायण व्यास ने एवं तदनुयायी शंकराचार्य ने जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद को वैदिक साहित्य के आधार पर पुष्ट किया है।

१३—गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १-२-११

शांकरभाष्य—कठवल्लिष्वेवं पठ्यते—‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य-लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः’ (कठ० १-३-१) इति । तत्र संशयः— किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ, उत जीवपरमात्मानाविति ? ब्रूमः— विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम् । कस्मात् ? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ । संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । अस्य गोर्द्वितीयोऽन्विष्यत इत्युक्ते गौरैव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा । तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते । तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ।

भाषार्थ—‘ऋतं पिबन्तौ’ इस वचन में संशय उत्पन्न होता है कि यहाँ बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हैं अथवा जीवात्मा और परमात्मा । हमारा कहना है कि इस प्रसंग में जीवात्मा और परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनों आत्मा चेतन और समान स्वभाववाले हैं । संख्या के श्रवण होने पर लोक में समान स्वभाववालों की ही प्रतीति देखी जाती है, क्योंकि ‘अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः’ (इस बैल का दूसरा साथी खोजना चाहिए) ऐसा कहने पर बैल के सजातीय दूसरे बैल को ही

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

४५

खोजा जाता है, उसके विजातीय अश्व अथवा पुरुष को नहीं। इसलिए यहाँ कर्मफलभोगरूप लिंग से जीवात्मा का निश्चय होने पर दूसरे की खोज में समान स्वभाववाले चेतन परमात्मा की ही प्रतीति होती है।

१४—विशेषणाच्च—१-२-१२

शांकरभाष्य—विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति ।
'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (कठ० १-३-३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति । 'सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (कठ० १-३-२) इति च परमात्मानं गन्तव्यम् ।

भाषार्थ—गन्ता और गन्तव्य आदि विशेषण भी जीव और परमात्मा में ही सम्भव हैं। 'आत्मानं रथिनं विद्धि' (तू आत्मा को रथी जान) इत्यादि उत्तरवाक्य-सन्दर्भ से रथ, रथी आदि के रूपक की कल्पना कर विज्ञानात्मा (जीवात्मा) रथी की संसार और मोक्ष के प्रति गन्तारूप से कल्पना करते हैं। और 'सोऽध्वनः परमाप्नोति' (वह संसार मार्ग से पार—उस व्यापक परमात्मा के परम पद को प्राप्त कर लेता है) इससे परमात्मा की गन्तव्य रूप में कल्पना करते हैं। इस प्रकार गन्ता और गन्तव्यादि विशेषणों से जीव-ब्रह्म का भेद उपपन्न होता है।

इसी सूत्र के भाष्य में आगे शंकर लिखते हैं—“एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्डक० ३-१-१) इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान् प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनश्न-चेतनत्वाभ्यां परमात्मा । अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (मु० ३-१-२) इति । अर्थात्—'द्वा सुपर्णा' इस मुण्डकश्रुति में भी अध्यात्म-प्रकरण के कारण लौकिक पक्षियों का वर्णन नहीं किया गया है। इसमें इन दोनों में

एक मधुर कर्मफलों का उपभोग करता है। इस प्रकार अदन (भक्षण) लिंग से जीवात्मा अवगत होता है और दूसरा न भोगता हुआ अभक्षण और चेतनत्वरूप लिंगों से परमात्मा अवगत होता है। उसके आगे के मन्त्र में (एक ही शरीररूपी वृक्ष में मुह्यमान जीव जब परमात्मा को देखकर उसकी महिमा को जान लेता है तब शोकरहित हो जाता है) इस प्रकार इन दोनों को द्रष्टा और द्रष्टव्य रूप में विशेषित किया है। इस प्रकार विशेषणों से भी जीव-ब्रह्म में भेद सिद्ध है।

१५—भेदव्यपदेशात् ॥१-३-५

शांकरभाष्य—भेदव्यपदेशश्चेह भवति—‘तमेवैकं जानथ आत्मानम्’ इति ज्ञेयज्ञा = तृभावेन’। तत्र प्राणभृतावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत्।

भाषार्थ—‘तमेवैकं जानथ’ (उसी एक आत्मा को जानो) इस प्रकार यहाँ ज्ञेय और ज्ञातृभाव से भेद का कथन है। उसमें जीव मुमुक्षु होने से ज्ञाता है और परिशेष से—अवशिष्ट होने से आत्मशब्दवाच्य ज्ञेय ब्रह्म भू आदि का आश्रय है, ऐसा ज्ञात होता है, जीव आश्रय नहीं है।

१६—स्थित्यदनाभ्यां च ॥१-३-७

शांकरभाष्य—द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य ‘द्वा सुपर्णासयुजा सखाया’ (मुण्डक० ३-१-१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्देश्येते। ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति’ इति कर्मफलाशनम् ‘अनश्नन्नन्योऽ-अभिचाकशति’ इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येत इति।

भाषार्थ—और द्यु आदि के आश्रय को प्रस्तुत कर ‘द्वा सुपर्णा०’ (साथ-साथ रहनेवाले तथा समान अख्यानवाले दो पक्षी शरीररूपी एक

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

४७

वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं) इस मन्त्र में स्थिति और भक्षण का निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः०' (उनमें से एक—जीव) तो स्वादिष्ट—मधुर कर्मफल का भोग करता है, इस मन्त्रांश-वाक्य में कर्मफल का उपभोग और अनश्नन्यो० (दूसरा—ईश्वर भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है) इसमें उदासीनतापूर्वक स्थिति निर्दिष्ट है। इस स्थिति और भक्षण से इस मन्त्र में क्रमशः ईश्वर और जीव का ग्रहण किया गया है।

१७—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ११-३-४२

शांकरभाष्य—सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४-३-२१) इति शारीराद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात्। बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जयति' (बृ० ४-३-३५) इति जीवाद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शरीरो जीवः स्मात् शरीर-स्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात् परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते।

भाषार्थ—सुषुप्ति और उत्क्रान्ति अवस्थाओं में शारीर= जीवात्मा से परमेश्वर के भेद का व्यपदेश है। कैसे? सुषुप्ति में यह पुरुष प्राज्ञात्मा से संश्लिष्ट—एक होने पर (समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता—सांख्य) न कुछ बाहर का जानता है, न भीतर का—यह श्रुति जीव से भिन्न रूप में ब्रह्म का व्यपदेश करती है। उसमें पुरुष शब्द जीववाचक है। कारण? कि वह वेदता होने से बाह्य और भीतर के पदार्थों के जानने के प्रसंग में उसका प्रतिषेध सम्भव है। प्राज्ञ परमेश्वर है, क्योंकि सर्वज्ञत्वलक्षण-प्रज्ञा से उसका नित्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार उत्क्रान्ति में भी 'अयं शारीर आत्मा०' (देही जीवात्मा

प्राज्ञात्मा से अधिष्ठित हो, शब्द करता हुआ जाता है)। इस प्रकार श्रुति परमेश्वर का जीव से भिन्नरूपेण व्यपदेश करती है। उसमें भी शरीर जीव है, क्योंकि वह शरीर का स्वामी है और प्राज्ञ परमेश्वर है।

१८—अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२-१-२२

शांकरभाष्य—तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत् सर्वज्ञं सर्वशक्तिब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्। तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। न हि तस्य हितं किञ्चित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यम्, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तिमत्त्वाच्च शारीरस्त्वनेवविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः। नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्।

भाषार्थ—‘तु’ शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म जीव से अधिक = भिन्न है, उसे हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं। उसमें हिताकरण—हित न करना आदि दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि उसे न तो कोई अपना कर्तव्य है और न अहित परिहार्य है। कारण? कि वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से उसके ज्ञान अथवा सामर्थ्य का प्रतिबन्ध कहीं नहीं है, परन्तु जीव तो ऐसा नहीं है, अतः उसमें अहित करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु हम उसे जगत् का स्रष्टा भी तो नहीं कहते। क्यों? सृष्टि में भेद का निर्देश होने से।

१९—प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ २-३-४६

शांकरभाष्य—यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशादेहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते, नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

४९

भाषार्थ—जैसे जीव संसारदुःख का अनुभव करता है, वैसा परमेश्वर अनुभव नहीं करता। जीव अविद्या के आवेश के बल से देह आदि में आत्मभाव-सा प्राप्त करके तत्कृत दुःख से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार दुःख के उपभोग का अभिमान करता है, वैसे परमात्मा को देह आदि में आत्मभाव अथवा दुःखाभिमान नहीं होता।

२०—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि । ३-२-११

शांकरभाष्य—न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति । न हि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति ।

भाषार्थ—उपाधि के योग से भी अन्य प्रकार की वस्तु का अन्य प्रकार का स्वभाव सम्भव नहीं। स्वभावतः स्वच्छ होता हुआ स्फटिक अलक्तक (लाख) आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता।

आचार्य शंकर ने सूत्रों का सूत्रानुसारी भेद घटित किया है। परन्तु अनेकत्र वे यह लिखना नहीं भूले कि यह भेद वास्तविक नहीं, अविद्याकृत है। इसके विपरीत स्वयं सूत्रकार ने समस्त ब्रह्मसूत्र में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं दिया कि उक्त सूत्रों में जीव-ब्रह्म के भेद का उपपादन अविद्याकृत है, अतः भाष्यकार का ऐसा लेख सूत्रकार की भावना के अनुकूल नहीं है। फिर उनकी 'न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति' इस स्थापना के रहते अविद्योपाधि ब्रह्म को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकती। निष्कर्षतः यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि अभेद—अद्वैतपरक अर्थ स्वयं शंकराचार्य को अभिमत नहीं थे। वेदमत की रक्षार्थ नास्तिकों को पराजित करने के उद्देश्य से ही उन्हें जल्प-प्रक्रियारूप कवच धारण करना पड़ा था।

उपनिषद्

यह एक निश्चित तथ्य है कि ऋगादि वेदों में अध्यात्म-तत्त्व बिखरा हुआ निहित है। विभिन्न ऋषियों ने उसी को उपनिषदों के रूप में संकलित किया है। उपनिषदों में ग्यारह उपनिषद् प्रधान माने जाते हैं। उनमें भी सर्वोपरि स्थान ईशोपनिषद् को प्राप्त है। यह उपनिषद् जहाँ से प्रारम्भ होता है वहाँ मङ्गलाचरण अथवा शान्तिपाठ के रूप में एक सन्दर्भ सर्वत्र मुद्रित रहता है। शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य में इसका पालन किया है—

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, उसी का विस्तृत विवरण उपनिषदों में प्रस्तुत हुआ है। फलतः यह सब उपनिषदों का सार है। इस सन्दर्भ का भी सार पहले दो पदों में निहित है, शेष भाग उसी का व्याख्यान है। दो पद हैं—अदस् और इदम् ।

शांकरभाष्य—अदः = तत्, ओम् = परब्रह्म, पूर्णम् = परिपूर्णम्, इदम् = दृश्यमानं, जगत् पूर्णम्, पूर्णात् = पूर्ण ब्रह्म से, पूर्णम् = पूर्ण जगत्, उदच्यते-उत्पद्यते, पूर्णस्य = पूर्णब्रह्मणः, पूर्णम् = पूर्ण जगत्, आदाय = गृहीत्वा, पूर्णमेव, अवशिष्यते = अवशिष्टं भवति ।

‘अदस्’ परोक्ष है, ‘इदम्’ प्रत्यक्ष है। ‘अदस्’ चेतन है, ‘इदम्’ अचेतन = जड़ है। ‘अदस्’ परोक्ष चेतन परब्रह्म परमात्मा है, ‘इदम्’ प्रत्यक्ष अचेतन (जड़) अगणित लोक-लोकान्तरों के रूप में बिखरा विश्व है। सन्दर्भ में बताया है—पूर्ण, अदः, पूर्ण इदम्, अदस् पूर्ण है,

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

५१

इदम् पूर्ण है। अपने-अपने रूप में अवस्थित दोनों पूर्ण हैं, किसी में कोई न्यूनता नहीं है। इसलिए न 'अदस्' 'इदम्' से कुछ लेता है, न 'इदम्' 'अदस्' से। इसी कारण न 'इदम्' कभी 'अदस्' होता है और न 'अदस्' कभी 'इदम्'।

'अदस्' सर्वव्यापी है; कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो, इसलिए इससे बाहर का तो प्रश्न ही नहीं उठता। 'बाहर' का विरोधी पद 'अन्दर' या भीतर है। तब यही कहा जा सकता है कि 'अदस्' से भिन्न जो 'इदम्' है, वह 'इदम्' उसी (अदस्) के अन्दर है। पर अन्दर होते हुए भी वह 'अदस्' का स्वरूप नहीं है। स्थानतः एक जगह रहते हुए भी स्वरूप से 'अदस्' से 'इदम्' पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के अगले वाक्य में कहा—'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'—'अदस्' पूर्ण से 'इदम्' पूर्ण उदक्त है, पृथक् है। तात्पर्य है—स्थानतः 'अदस्' पूर्ण के अन्तर्गत भी 'इदम्' पूर्णस्वरूप से उससे पृथक् है। इसी अर्थ को सन्दर्भ के उत्तरार्द्ध में पुष्ट किया—

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

'अदस्' पूर्ण के सम्बन्धी या साथी 'इदम्' पूर्ण को पृथक् लेकर भी 'अदस्' पूर्ण ही बना रहता है, क्योंकि 'अदस्' पूर्ण के स्वरूप से कोई अंश 'इदम्' पूर्ण ने नहीं लिया। 'अदस्' से 'इदम्' को पृथक् उठाने से न 'अदस्' का कोई अंश न्यून हुआ, न 'इदम्' का बढ़ा। यदि ऐसा हुआ होता तो सन्दर्भ का प्रथम वाक्य 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सर्वथा निरर्थक एवं असत्य हो जाता। इस प्रकार सन्दर्भ का शेष समस्त भाग उसी अर्थ की वास्तविकता को स्पष्ट व पुष्ट करता है। तब पूर्ण 'अदस्' और पूर्ण 'इदम्' के इस द्वैत को शंकराचार्य कैसे झुठला सकते थे?

वेदान्तदर्शन के 'विशेषणात् च' (१-२-१२) इस सूत्र से विशेषणों (भिन्नता) से जीवात्मा तथा परमात्मा के द्वित्व का प्रतिपादन करते हुए उसकी पुष्टि में उन्होंने उपनिषदों के अनेक सन्दर्भों को उद्धृत किया है। वे लिखते हैं—

१—“विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति । ‘आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु’ (कठ० १-३-३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोगोन्तारं कल्पयति । ‘योऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्’ (कठ० १-३-१९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम् । तथा ‘तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ (कठ० १-२-१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ । प्रकरणं चेदं परमात्मनः । ‘ब्रह्मविदो वदन्ति’ इति च वक्तृ-विशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते । तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम् । एष एव न्यायः ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सरवाया’ (मु० ३-१-१) इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि अध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते । ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति’ इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । ‘अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति’ इत्यनश्न-चेतनत्वाभ्यां परमात्मा । अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—‘समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः’ (मु० ३-१-२) इति ।

भाषार्थ—गन्ता और गन्तव्य आदि विशेषण भी जीव और ईश्वर में ही सम्भव हैं । ‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ (तू आत्मा को रथी जान और शरीर को रथ) इत्यादि उत्तरवाक्य-सन्दर्भ से रथी, रथ आदि रूपक की कल्पना कर जीवात्मा की मोक्ष की ओर गन्तारूप से कल्पना करते हैं और वह संसार-मार्ग से पार—उस व्यापक परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेता है, इससे परमात्मा की गन्तव्यरूप से कल्पना करते हैं । इसी प्रकार (दुर्विज्ञेय, गूढमाया में प्रविष्ट, गुहा—बुद्धि में स्थित, गह्वर—अनेक अनर्थों से व्याप्त, देह में स्थित, विषयों से चित्त को हटाकर, आत्मा में संलग्न करना, उसकी प्राप्ति से आत्मा का मनन कर धीर पुरुष हर्ष और शोक का त्याग कर देता है) । इस प्रकार मन्ता और

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

५३

मन्तव्यरूप से दोनों ही विशेषित किए गए हैं। यह प्रकरण भी परमात्मा का है। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' (ब्रह्मवेत्ता कहते हैं) इस प्रकार वक्ताविशेष का ग्रहण परमात्मा के स्वीकार करने पर ही संगत होता है। इसलिए यहाँ जीवात्मा और परमात्मा ही कहने चाहिए। द्वा सुपर्णा सयुजा० इत्यादि में भी यही न्याय्य है। वहाँ भी अध्यात्म-प्रकरण के कारण लौकिक पक्षियों का प्रकरण नहीं है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस प्रकार भक्षण लिङ्ग से जीवात्मा का ग्रहण होता है और 'अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति' इन अभक्षण और चेतनत्वरूप लिङ्गों से परमात्मा का ग्रहण होता है। उससे आगे के मन्त्र में उन्हीं दोनों को द्रष्टा और द्रष्टव्यभाव से विशेषित किया है।

इस प्रकार गन्ता-गन्तव्य, मन्ता-मन्तव्य, वक्ता-वक्तव्य, अश्नन्-अनश्नन्, द्रष्टा-द्रष्टव्य आदि विशेषणों से सर्वत्र जीवात्मा और परमात्मा इन दो का ग्रहण होने से उपनिषदों के प्रमाण से स्पष्टतः द्वैत सिद्ध होता है। मूलतः शंकराचार्य का यही मन्तव्य है।

२ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

—कठ १०- ३-१

इस मन्त्र पर कुछ विचार ब्रह्मसूत्र के 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' (१- २-११) के अन्तर्गत किया जा चुका है। वहाँ पिबन्तौ, प्रविष्टौ तथा छायातपौ पदों के द्विवचनान्त होने से प्रश्न उठा कि ये दो कौन हैं? वहाँ शंकराचार्य ने दो टूक उत्तर दिया है—'तस्माद्वि-विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते'—अतः यहाँ गुहा में प्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्मा का ही ग्रहण किया जाता है। इससे पूर्व 'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' (१-२-८) के भाष्य में विस्तृत विवेचन के बाद कहा गया है—“विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्त्ता भोक्ता” अपहृतयाप्त्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।” तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्यं ईश्वरस्य

कल्पयितुम् ।”

अर्थात्—जीव और ईश्वर में भेद है । एक—जीव कर्ता, भोक्ता”....दूसरा पापरहित होने से भोक्ता नहीं है, अतः ईश्वर से लेशमात्र भी उपभोग की कल्पना नहीं हो सकती ।

३— पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४-१

शांकरभाष्य—इन्द्रियों की रचना बहिर्मुखी है—‘तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मनान्तरात्मानमित्यर्थः । एवं स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्त्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं (पश्यति) ।

भाषार्थ—इसलिए मनुष्य बहिःस्वरूप अनात्मभूत शब्दादि विषयों को ही देखता—उपलब्ध करता है, ‘नान्तरात्मन्’ अर्थात् अन्तरात्मा को नहीं । यद्यपि लोक का ऐसा ही स्वभाव है तो भी कोई धीर-बुद्धिमान्-विवेकी पुरुष ही नदी को उसके प्रवाह के विपरीत दिशा में फेर देने के समान (इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर) प्रत्यगात्मा—परमात्मा को देखता है । यहाँ द्रष्टा-रूप से जीवात्मा का और द्रष्टव्य-रूप में परमात्मा का उल्लेख हुआ है । एक ही में द्रष्टा-द्रष्टव्य अथवा उपलब्धा-उपलब्धव्य का व्यपदेश युक्त न होने से दोनों का पृथक्त्व सिद्ध है ।

४— सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

—मु० ३-१-५

शांकरभाष्य—सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते । अन्तःशरीरे-

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

५५

ऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः ।

भाषार्थ—यह आत्मा सत्य से अर्थात् मिथ्याभाषण के त्याग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । जो इन साधनों से प्राप्त किया जाता है, वह कौन है, इसपर कहा जाता है—‘अन्तः शरीरे’ अर्थात् शरीर के भीतर पुण्डरीकाकाश में जो ज्योतिर्मय सुवर्णवर्ण, शुभ्र अर्थात् शुद्ध आत्मा है, जिसेकि क्षीणदोष अर्थात् जिनके क्रोधादि मनोमल क्षीण हो गये हैं, वे यतिजन—यतनशील संन्यासी लोग देखते तथा उपलब्ध करते हैं ।

तुलना करें—अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों से—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ १०-२-३१

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ १०-२-३२

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणोभिरावृतम् ।

तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ १०-८-४३

यहाँ भी द्रष्टारूप में यतियों का तथा द्रष्टव्यरूप में ज्योतिर्मय आत्मा (परमात्मा) का उल्लेख होने से द्वैत उपपन्न होता है ।

५—

यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं

सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

—मुण्डक० १-१-६

शांकरभाष्य—अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । विभुं सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं किं च तदव्ययमुक्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम् । यदेवं लक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं परिपश्यन्ति सर्वतो धीरा धीमन्तो

विवेकिनः । ईदृशमक्षरं यया विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ।

भाषार्थ—इस सन्दर्भ में आया 'भूतयोनि' पद जगत् के उपादान-कारण की ओर संकेत करता प्रतीत होता है । परन्तु यहाँ पराविद्या के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या का प्रसंग है । प्रकृति आदि का विवेचन तो अपरा-विद्या में आता है ।

'भूतयोनि' में 'योनि' पद कारणमात्र का वाचक है, केवल उपादानकारण का नहीं । लोक में 'स्त्रीयोनि' शब्द का प्रयोग होता है । परन्तु वह केवल बालक के गर्भाशय से निस्सरण का मार्ग है, शिशुदेह का उपादानकारण कदापि नहीं । उपादानकारण तो आरम्भ में माता-पिता के रज-वीर्य और तदनन्तर शरीर के विकास में सहायक तत्त्व हैं । यदि 'योनि' पद का कहीं आपाततः उपादानकारण के रूप में प्रयोग हुआ प्रतीत हो तो उसे मात्र औपचारिक समझना चाहिए, क्योंकि न लोक में किसी चेतन तत्त्व को किसी जड़ तत्त्व का उपादान देखा जाता है, और न कहीं शास्त्र में इसका उपपादन उपलब्ध है ।

विवेच्य सन्दर्भ में अक्षर को 'अव्यय' कहा गया है । अव्यय का अर्थ है 'अपरिणामी'—जिसमें किसी तरह का न्यूनाधिक्य या परिवर्तन न हो । प्रकृति में परिणाम होता है—वह कारणरूप से कार्यरूप में परिणत होती है, अतः वही जगत् का उपादानकारण हो सकती है, अव्यय ब्रह्म नहीं । ब्रह्मविद्या के प्रसंग में 'भूतयोनि' पद से निमित्त-कारणरूप ब्रह्म का ही बोध होता है । शब्द शंकराचार्य के हैं । हमने केवल उनको स्पष्ट किया है ।

६—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १-१-७

शांकरभाष्य—यथा लोके प्रसिद्धम्, ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित् कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यक्तानेव तन्तून्बहिः

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

५७

प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवापादयति, यथा च पृथिव्यामोषधयः प्रभवन्ति, यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात् केशलोमानि केशाश्च लोमानि च सम्भवन्ति । यथैते दृष्टान्तास्तथा निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्सम्भवति समुत्पद्यत इह विश्वं समस्तं जगत् ।

भाषार्थ—जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तन्तुओं को निकालकर जाला बनाती और फिर अपने भीतर ही समेट लेती है, उसी प्रकार परमात्मा अपने से भिन्न प्रकृति की अपेक्षा किये बिना जगत् की रचना और प्रलय करता है । ईश्वर सृष्टि की रचना किस प्रकार करता है, इसे स्पष्ट करने के लिए उपनिषत्कार ऋषि ने और उसके भाष्यकार शंकराचार्य ने यहाँ तीन दृष्टान्त दिए हैं—(१) मकड़ी का जाला बुनना, (२) पृथिवी से ओषधियों का प्रादूर्भूत होना, और (३) जीवित मनुष्य से केश-नख आदि का उत्पन्न होना । दृष्टान्त और दार्ष्टान्त को ठीक तरह से समझने के लिए सन्दर्भान्तर्गत 'यथा', 'तथा' और 'सतः पुरुषात्' पदों के स्वारस्य पर ध्यान देना आवश्यक है ।

प्रथम दृष्टान्त के अनुसार जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत् को बनाता है । एक विशेष प्रकार के भौतिकदेह तथा उसमें अधिष्ठित जीव-चेतन का नाम मकड़ी है । यदि शरीर न हो तो केवल चेतन उस जाले की रचना नहीं कर सकता । आत्मा तो अमर है, मकड़ी के मर जाने पर भी बना रहता है । परन्तु उस आत्मा के द्वारा बनाया गया जाला कहीं देखने में नहीं आता । इसी प्रकार जाला तभी तक बनता है, जब तक मकड़ी के देह में आत्मा का निवास रहता है । मृत शरीर से जाला बनते नहीं देखा जाता । स्पष्ट है कि मकड़ी स्वयं जाले के रूप में परिणत नहीं होती । इस प्रकार मकड़ी का जड़ शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति में उपादानकारण है और उसमें स्थित जीव-चेतन निमित्तकारण है । इसी प्रकार ब्रह्म प्रलयकाल में अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूतप्रकृति से सर्गकाल में सृष्टि की रचना करता है ।

इसमें वेद का स्पष्ट प्रमाण है—‘हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे ।’ ‘हिरण्यगर्भ’ प्रकृति और परमेश्वर के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है । प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करते हुए नासदीय सूक्त (ऋ० १०-१२९-२) के अनुसार प्रलयकाल में भी ‘स्वधया तदेकमानीद- वातम्’—स्वधा (प्रकृति) के साथ परमेश्वर बना रहता है । सर्गकाल में उसी के सहयोग से परमेश्वर जगद्रचना में प्रवृत्त होता है, अकेला नहीं । बड़ई को स्वयं मेज़ बनते या जुलाहे को वस्त्र बनते नहीं देखा जाता । वे लकड़ी और सूत के सहयोग से ही मेज़ या वस्त्र बना पाते हैं । ऐसे ही मकड़ी में स्थित जीवचेतन अपने भौतिक शरीर के तन्तुओं से ही जाला बनाता है । तब ब्रह्म ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है ? वस्तुतः कोई अपरिणाम-तत्त्व किसी का उपादान नहीं हो सकता ।

दूसरा दृष्टान्त सद्रूप पुरुष से केश-नख आदि की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है । यहाँ भी सदेह चेतन का नाम पुरुष है—‘अचेतन देह की संज्ञा शव है और विदेह की आत्मा—शरीर में केश-नख आदि की उत्पत्ति शरीर के भौतिक तत्त्वों से होती है, आत्मा केश-नख आदि के रूप में परिणत नहीं होता । जब तक शरीर में आत्मा बैठा है, तभी तक केश-नख आदि की उत्पत्ति होती है । केश-नख आदि देह का परिणाम हैं, आत्मा अथवा चेतन पुरुष का नहीं । ‘सतः पुरुषात्’ कहने से स्पष्ट है कि चेतन जीव द्वारा अचेतन शरीर के संयुक्त रहने तक ही देह से उनका प्रादुर्भाव होता है । इसी प्रकार अधिष्ठातृत्व से, मूल उपादान प्रकृति से, यह विश्व उत्पन्न होता है ।

तीसरा दृष्टान्त है—‘यथा पृथिव्यामोषधयः प्रभवन्ति’ जैसे ओषधियाँ पृथिवी से उत्पन्न होती हैं । औषधियों आदि के प्रादुर्भाव में उपादान उनके बीच हैं जो पृथिवी का आश्रय पाकर अंकुरित होते हैं । सर्गकाल में परमेश्वर तथा तदनन्तर माली, किसान आदि निमित्तकारण हैं । इसी प्रकार प्रकृति के जगद्रूप होने में ब्रह्म उसका अधिष्ठान होने से केवल निमित्तकारण है ।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

५९

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतनतत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है और न चेतनतत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति ही किसी कार्यरूप में परिणत होती है। इसलिए यदि शास्त्र में कहीं इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है तो उसका यही तात्पर्य समझना चाहिए कि वहाँ ब्रह्म के शरीररूप से प्रकृति का विन्यास—कथन है, क्योंकि ब्रह्म की शरीररूप में अनेकत्र कल्पना की गई है।

७— सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः

सज्जायत ॥

—छा० ६-२-१

इसके भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं—“यदेदमुच्यते लोके पूर्वाह्णे घटादिसिस्क्षुणा कुलालेन मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागतोऽपराह्णे तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेदीमन्नं कार्यमुपलभ्य मृदेवेदं घटशरावादिकेवलं पूर्वाह्ण आसीदिति तथेहाप्युच्यते सदेवेदमग्र आसीदिति। अद्वितीयमिति, मृद्व्यतिरेकेण, मृदो यथान्यद् घटाद्याकारेण परिणमयितृकुलालादिनिमित्तकारणं द्रष्टम्।”

जिस प्रकार लोक में घटादि बनाने की इच्छावाले कुम्हार द्वारा पूर्वाह्ण में मृत्तिका के पिण्ड को फैलाया हुआ देखकर कोई पुरुष किसी अन्य ग्राम में जाकर मध्याह्नोत्तरकाल में लौटने पर उसी स्थान में घट, शराव आदि अनेकों भेदोंवाले मृत्तिका के कार्य को देखकर यह कहता है कि पूर्वाह्ण में ये घटादि केवल मृत्तिका ही थे, उसी प्रकार यहाँ भी ‘यह आरम्भ में केवल सत् ही था’ ऐसा कहा जाता है। यह एक ही था और अद्वितीय था। मृत्तिका को घटादि आकार में परिणत करनेवाला कुलालादि निमित्तकारण देखा जाता है। और यह रचना निष्प्रयोजन न होकर किसी के उपयोग के लिए है। इसलिए इसके भोक्ता जीव की सत्ता स्वतः सिद्ध है।

यहाँ शंकराचार्य ने स्पष्ट शब्दों में निमित्तकारण के रूप में कुम्हार

का और उपादानकारण के रूप में मिट्टी का उल्लेख करके द्वैत को स्वीकार किया है। अद्वैतवादी 'अद्वितीय' शब्द को ब्रह्मेतर किसी सत्ता के निषेध में प्रयुक्त हुआ मानते हैं। परन्तु 'यदि उपनिषत्कार को यह अर्थ अभिमत होता तो 'एक ही था' (एकमेव) इतना कहना पर्याप्त था, 'अद्वितीय' कहने की क्या आवश्यकता थी? निश्चय ही इस शब्द का कुछ विशेष अर्थ होगा। 'अद्वितीय' पद यहाँ ब्रह्म का विशेषण है। यदि किसी के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वह अद्वितीय विद्वान् है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान अन्य कोई विद्वान् नहीं है, यह नहीं कि उसके अतिरिक्त संसार में अन्य कोई विद्वान् ही नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय कहने का इतना ही अभिप्राय है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य होने के कारण ब्रह्म के सदृश अन्य कोई नहीं है। ब्रह्म का गुण अपने स्वरूप में निरपेक्ष है। वह हर प्रकार से पूर्ण है। उत्कर्ष में न कोई उससे बढ़कर है और न कोई उसके समान। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ब्रह्म से अतिरिक्त पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पशुवादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है।

८ — तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं
जीवजमुद्भिज्जमिति ।

—छा० ६-३-१

शांकरभाष्य—तेषां जीवाविष्टानां खल्वेषां पक्ष्यादीनां भूतानाम्, एषामिति प्रत्यक्षनिर्देशान्न तु तेजः प्रभृतीनां तेषां त्रिवृत्करणस्य वक्ष्यमाणत्वादसति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशानुपपत्तिः। देवताशब्द-प्रयोगाच्च तेजः प्रभृतिष्विमास्तिस्त्रो देवता इति। तस्मात्तेषां खल्वेषां भूतानां पक्षिपशुस्थावरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि भवन्ति ।

भाषार्थ—उन (इन पक्षी आदि) प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं—अण्डज, जीवज तथा उद्भिज्ज ।

जीवों द्वारा आविष्ट उन = इन पक्षी आदि प्राणियों के तीन बीज

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

६१

होते हैं। यहाँ 'भूतानाम्' से तेजःप्रभृति भूतों का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'एषाम्' ऐसा प्रत्यक्ष निर्देश होने के कारण पक्षी आदि अर्थ ही सम्भव है। आगे त्रिवृत्करण का वर्णन किया जानेवाला है और त्रिवृत्करण के हुए बिना ही प्रत्यक्ष निर्देश नहीं बनता। इसके अतिरिक्त तेजःप्रभृति के लिए 'इमाः तिस्रो देवताः' इस प्रकार 'देवता' शब्द का प्रयोग होने से भी (यहाँ 'भूत' शब्द से पक्षी आदि ही विवक्षित हैं)—अतः उन = इन पशु, पक्षी एवं स्थावर—आदि प्रसिद्ध भूतों के तीन ही बीज हैं, इससे अधिक बीज कारण नहीं हैं।

यहाँ शंका हुई—किन्तु अण्डे से उत्पन्न हुए को अण्डज कहते हैं, इसलिए अण्डा ही बीज है, ऐसा कहना चाहिए। फिर अण्डज को बीज क्यों कहा जाता है ?

शंकर समाधान करते हैं—

सत्यमेवं स्यात्, यदि त्वदिच्छातन्नाश्रुतिः स्यात्, स्वतन्त्रा तु श्रुतिः, यत आहाण्डजाद्येव बीजं नाण्डादीति। दृश्यते चाण्डजाद्यभावे तज्जातीय सन्तत्यभावो नाण्डाद्यभावे। अतोऽण्डजादीनाम्।

यदि श्रुति तुम्हारी इच्छा के अधीन होती तो सचमुच ऐसा ही होता। किन्तु श्रुति स्वतन्त्र है, क्योंकि उसने अण्डज आदि को ही बीज बतलाया है, अण्डे आदि को नहीं। यही बात देखी भी जाती है कि अण्डज आदि का अभाव होने पर ही उस जाति की सन्तति का अभाव होता है, अण्डे आदि का अभाव होने पर नहीं, अतः अण्डजादि के बीज अण्डजादि ही हैं।

उपनिषत्कार ने सूत्ररूप में और शंकराचार्य ने विस्तृत रूप में बीज का विवेचन क्यों किया ? इसलिए कि बीज के बिना कुछ उत्पन्न नहीं होता। बीज ही प्रकृति का अपर नाम है—'प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः'—जिससे कोई वस्तु बनाई जाय वह प्रकृति कहाती है। शिष्य ने अण्डे को बीज समझ लिया तो आचार्य ने स्पष्ट किया कि बीज तो अण्डज है, अण्डा नहीं। मुर्गी के अण्डे से नहीं, अण्डज माता-पिता के

संयोग से सन्तति होती है, वे दोनों जड़ शरीर और चेतन आत्मा का संयुक्त रूप हैं। इसी प्रकार सृष्टि की रचना प्रकृति-पुरुष दोनों से ही बनती है।

९—यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि

भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त

आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

—बृ० ३-७-१५

१०—यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य

विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त

आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

—बृ० ३-७-२२

शंकरभाष्य—जो समस्त भूतों में स्थित रहनेवाला समस्त भूतों से भिन्न है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर सबका नियमन करता है, वही अमृत आत्मा तेरा अन्तर्यामी है ॥ १५ ॥

जो विज्ञान (आत्मा) में रहनेवाला विज्ञान से भिन्न है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञान (आत्मा) का नियमन करता है, वह अमृत आत्मा ही तेरा अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

वर्तमान में उपलब्ध बृहदारण्यकोपनिषद् काण्वशाखीय शतपथ-ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड का भाग है। यहाँ शरीर आत्मा (जीवात्मा) के लिए 'विज्ञान' पद का प्रयोग हुआ है। माध्यन्दिन शाखीय शतपथ-ब्राह्मण में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद आया है, और कोई भेद नहीं है।

प्रथम सन्दर्भ में समस्त भूतों में व्याप्त होने पर भी ब्रह्म को उनसे भिन्न—पृथक् बताया है। दूसरे सन्दर्भ में जीवात्मा में ब्रह्म की स्थिति का विस्तृत विवेचन करते हुए उसे जीवात्मा से भिन्न = पृथक् बतलाया है। अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से जीवात्मा उसे जान नहीं

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

६३

सकता। इस प्रकार सर्वव्यापी होने पर भी ब्रह्म के सब भूतों तथा जीवात्मा से भिन्न होने से द्वैत उपपन्न होता है।

११—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥

—श्वेता ४-१०

शांकर०—जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिर्मयैवेति विद्याद्विजानीयात्। तुशब्दोऽवधारणार्थः। महाश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वरस्तं मायिनं मायायाः सत्तास्फूर्त्यादिप्रदं तदाधिष्ठानत्वेन प्रेरयितारमेव विद्यादिति।

भाषार्थ—पीछे जिसका जगत् की प्रकृति-(कारण)-रूप से सर्वत्र प्रतिपादन किया है, वह माया प्रकृति ही है, ऐसा जानें। यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। जो महान् और ईश्वर होने से महेश्वर है, उसे मायावी—माया (प्रकृति) को स्फूर्ति देनेवाला तथा अधिष्ठानरूप से उसे प्रेरित करनेवाला जानना चाहिए।

१२— अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।

तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ —श्वेता ०४-९

शांकरभाष्य—अस्मात्प्रकृतादक्षराद्ब्रह्मणः मायी एतत् विश्वं सर्वं सृजत उत्पादयति। अन्यश्च तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे माययैव इव संनिरुद्धः संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः ॥

भाषार्थ—मायी (ईश्वर) इस प्रकृति से सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है। इस मायाजाल में फँसा अन्य (जीव) संसार में भटकता रहता है।

इस प्रकार प्रकृति का अपर नाम माया है और उसका नियन्ता होने से ब्रह्म मायी या महेश्वर कहाता है। ब्रह्म के शरीररूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि उस महेश्वर के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत हुई है। परिशेषन्याय से 'अन्य' पद से जीवात्मा का ग्रहण होता है जिसके भोगापवर्ग के लिए परमेश्वर सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यहाँ शंकर ने प्रकारान्तर से ईश्वर,

जीव व प्रकृति तीनों की सत्ता को स्वीकार किया है ।

एकमात्र तत्त्व विविध रूप में परिणत होता है—ऐसा दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है । ऐसा माननेवाले आचार्य भी अपनी बात को पूरी तरह नहीं निभा सके । प्रकृति नाम से उन्हें चिढ़ (Allergy) थी, क्योंकि यह उनके मत (शून्यवाद) में बाधक बनती थी, परन्तु उसके बिना उनका काम भी नहीं चलता था । अन्ततोगत्वा उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी । प्रकृति से ब्रह्म का पीछा छूटा तो उसके साथ माया लग गई । नाममात्र का अन्तर पड़ा, क्योंकि प्रकृति के सभी गुण माया में हैं । वह विविधरूपा है, इसलिए जगत् उसका विकार व परिणाम है । जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति अथवा माया के उपादानत्व को कोई नहीं हटा पाया ।

१३— नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्,
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वेता० ६-१३

शांकरभाष्य—नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये । अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये । तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातृणां मध्ये । एको बहूनां जीवानां यो विदधाति भोगान् । सर्वस्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ।

भाषार्थ—नित्य जीवों के मध्य जो नित्य है, अथवा पृथिवी आदि नित्यों में जो नित्य है, जो अकेला ही बहुत-से जीवों के भोगों का विधान करता है और सांख्ययोग द्वारा सबके लिए ज्ञातव्य है, उस प्रकाशस्वरूप को जानकर (मनुष्य) सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

इस सन्दर्भ में बहुवचनान्त 'नित्यानाम्' पद से स्पष्ट है कि नित्य पदार्थ कम-से-कम तीन अवश्य हैं । ये ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं । सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद से शून्य होने से ईश्वर तो एक ही है ।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

६५

तीनों के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के बन्धन में होने के कारण अपनी विशेषता के कारण परमात्मा को 'नित्यो नित्यानाम्'—नित्यों में नित्य कहा गया है। 'चेतनानाम्' पद के भी बहुवचनान्त होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चेतन तत्त्व भी अनेक हैं जिनमें एक परमात्मा है। 'बहुत-से जीवों' के भोगों का विधान होने से जीवों का परमात्म से भिन्न होने के साथ-साथ उनका अनेक होना भी प्रमाणित होता है। नित्य होने से जीवात्माओं के ईश्वर के अंश होने का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि नित्य एवं निरवयव होने से परमेश्वर के अंश नहीं हो सकते।

१४— भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च त्रिविधं ब्रह्मेतत् ।—श्वेता० १-१२

शांकरभाष्य—भोक्ता जीवो भोग्यमितरत्सर्वं प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः । तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैति ।

भाषार्थ—जीव भोक्ता है, भोक्ता और अन्तर्यामी से अतिरिक्त और सब भोग्य है तथा अन्तर्यामी परमेश्वर प्रेरिता है—यह तीन प्रकार से कहा हुआ ब्रह्म ही है।

वेदादि शास्त्रों में 'ब्रह्म' पद ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है। वेद में 'ज्येष्ठ'-पूर्वक ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है, 'इदं'-पूर्वक जीव का तथा 'महत्'-पूर्वक प्रकृति का। इस प्रकार ब्रह्म अर्थात् महानता के तीन रूप हैं। स्थल—प्रकरण के अनुसार अर्थ का निर्धारण होता है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में वह भोक्ता के रूप में जीव का, भोग्य के रूप में प्रकृति का तथा प्रेरिता के रूप में परमात्मा का वाचक होने से त्रिविध है।

१५—द्वा सुपर्णा० (श्वेता० ४-६)

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या भूमिका में द्रष्टव्य है।

१६—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

अवश्यम् एतेषां कृतिः शिवाय न सम्प्राप्यते । —श्वेता० ४-७

शांकरभाष्य—समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो भोक्ताविद्याकामकर्म-फलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव समुद्रजले निमग्नो निश्चयेन देहात्म-भावमापन्नः दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थ-प्रकारैरविवेकतया विचित्रतामापद्यमानः । यदा केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽसंसारिणमशनायाद्य- संस्पृष्टं सर्वान्तरमन्यं परमात्मानमीशमस्य महिमानं विभूतिञ्च पश्यति तदा वीतशोको भवति । सर्वस्माच्छोकसागराद्विमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ।

भाषार्थ—एक ही वृक्ष अर्थात् शरीर में भोक्ता जीव अविद्या, काम, कर्मफल और रागादि के भारी भार से आक्रान्त हो समुद्र के जल में डूबे हुए तूँबे के समान देहात्मभाव को प्राप्त हुआ, दीनभाव से अनीशा = असमर्थता की स्थिति को प्राप्त हुआ शोक अर्थात् सन्ताप करता है । जब कभी कोई परम कृपालु आचार्य उसे योगमार्ग का उपदेश कर देते हैं तब वह संसारधर्मशून्य, क्षुधादि से असंस्पृष्ट, सर्वान्तर्यामी ईश्वर और उसकी महिमा = विभूति को देखता है तब वह शोकरहित हो जाता है, अर्थात् शोकसागर से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है ।

यदि जीव वास्तव में ब्रह्म या ब्रह्म का ही रूप होता तो शंकराचार्य ब्रह्म के निर्विकार होने से किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान आदि से ग्रस्त होने और आनन्दस्वरूप होने के कारण उसके शोकग्रस्त होने की कल्पना कैसे कर सकते थे ? मन्त्र में 'मुह्यमानः पुरुषः' तथा 'अन्यमीशम्' पदों के प्रयुक्त होने से जीवेश्वर का भेद स्पष्ट है । वृक्ष के रूप में जड़ प्रकृति विद्यमान है । आचार्य ने अपने भाष्य में तीनों अनादि तत्त्वों की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया है ।

१७. ज्ञाज्ञौ द्वावजानीशनीशावजा होका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ॥

—श्वेता० १-९

शांकरभाष्य—ज्ञाज्ञौ द्वाविति । ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्ता-वजौ जन्मादिरहितौ । सर्वेशः परमेश्वरः अनीशो जीवः, सर्वज्ञः परमेश्वरः

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

६७

असर्वज्ञो जीवः, सर्वकृत्परमेश्वरः असर्वकृज्जीवः, सर्वभूत्परमेश्वरः देहादिभृज्जीवः, सर्वात्मा परमेश्वरः असर्वात्मा जीवः, विश्वैश्वर्य आप्तकामः परमेश्वरः, अल्पैश्वर्योऽनाप्तकामो जीवः, 'सर्वतः पाणि०' (श्वेता० ३-६), 'सहस्रशीर्षा' (श्वेता० ३-१४), 'नित्यो- नित्यानाम्' (श्वेता० ६-१३) इत्यादिना जीवेश्वरयोर्विलक्षण- व्यवहारसिद्धिः स्यात्। न तु भोक्त्रादिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति स्वतः कूटस्था- परिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनोऽभोक्त्रादिरूपत्वात्। नापि परतरो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भोक्त्रादिप्रपञ्चहेतुभूतस्य वस्त्वन्तरस्याभावात्। वस्त्वन्तरसद्भावेऽद्वैतहानिरित्याशङ्क्याह—'अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थ- युक्तेति। भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि प्रपञ्चासिद्धिरेव स्यात्। सिध्यत्येव प्रपञ्चः। हि यस्मादर्थे। यस्मादजा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा सिद्धा प्रसवधर्मिणी।

भाषार्थ—'ज्ञ' और 'अज्ञ' दो हैं। ईश्वर ज्ञ (सर्वज्ञ) है और जीव अज्ञ (अल्पज्ञ) है। वे दोनों ही अज—जन्मादिरहित हैं। परमेश्वर सर्वेश्वर है, जीव अनीश्वर है। परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव असर्वज्ञ है। परमेश्वर सब-कुछ करनेवाला है, जीव कुछ भी नहीं कर सकता। परमेश्वर सबका पोषण करनेवाला है, जीव देहादि का ही पोषक है। परमेश्वर सबका आत्मा है, जीव सबका आत्मा नहीं है। परमेश्वर सर्वैश्वर्यसम्पन्न और पूर्णकाम है, जीव अल्पैश्वर्यवान् और पूर्णकाम नहीं है। और 'उस (परमेश्वर) के सब ओर हाथ हैं', 'वह सहस्र शिरोवाला है', 'वह नित्यों का नित्य है' इत्यादि वाक्यों से जीव और ईश्वर में भेद की सिद्धि हो सकती है। किन्तु भोक्ता आदि प्रपञ्च की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कूटस्थ, अपरिणामी, अद्वितीय वस्तु अभोक्तादिरूप है तथा परतः (किसी अन्य से) भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपञ्च की हेतुभूत किसी अन्य वस्तु की सत्ता ही नहीं है। कारण, किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार करने पर तो अद्वैत की हानि होगी। ऐसी शंका होने पर श्रुति कहती

है—भोक्ता के भोग्य-सम्पादन में एकमात्र अजा (प्रकृति) ही नियुक्त है। यदि प्रपञ्च न होता तो ईश्वरादि का विभाग सम्भव न होता। किन्तु प्रपञ्च तो सिद्ध (प्रत्यक्ष) है। मूल में 'हि' शब्द 'क्योंकि' के अर्थ में प्रयुक्त है। क्योंकि अजा—प्रकृति, जो उत्पन्न न होने के कारण अजा है, प्रसवधर्मिणी सिद्ध है।

इस प्रकार यहाँ 'ज्ञ' से परमात्मा का, 'अज्ञ' से जीवात्मा का और 'अजा' से प्रकृति का ग्रहण होने से इस मन्त्र में त्रिवाद का प्रतिपादन किया गया है।

१८—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ —ईश० १

शांकरभाष्य—ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं चराचरमाच्छादनीयम्। एवमीश्वरेण त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः भुञ्जीथा। एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीः।

भाषार्थ—संसार में जो कुछ भी चराचर वस्तु है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। उसका त्यागपूर्वक उपभोग करो, उसका लोभ मत करो।

इस मन्त्र में आच्छादक और आच्छाद्य के रूप में परमेश्वर और जगत् का उल्लेख हुआ है। आच्छादक और आच्छाद्य अथवा व्यापक और व्याप्य एक नहीं हो सकते। लोक में चेतन की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रयोजन से युक्त देखी जाती हैं। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। जगत् की रचना में ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह आप्तकाम है। यह जगत् जीव के भोग और अपवर्ग के लिए है। यदि जगद्रचना से पूर्व उसका भोक्ता जीव न होता तो परमेश्वर किसके लिए जगद्रचना करता? फिर 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' तथा 'मा गृधः' जैसे विधि तथा निषेधपरक वाक्य भी किसी चेतन परन्तु अल्पज्ञ सत्ता को लक्ष्य करके ही कहे जा सकते हैं। इस प्रकार वेदमूलक तथा समस्त उपनिषदों की आधार ईशोपनिषद् के इस प्रथम

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

६९

मन्त्र में शंकराचार्य ने ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की पृथक् किन्तु समसामयिक सत्ता को स्वीकार किया है।

१९—अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम ॥

—ईश० १८

शांकरभाष्य—हे अग्ने ! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन्। किञ्च युयोधि विनाशय अस्मदस्मतो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। भूयिष्ठां बहुतरां तु तुभ्यं नम उक्ति नमस्कारवचनं विधेम।

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! हमें कर्मफलरूपी धन की प्राप्त्यर्थ सन्मार्ग से ले-चलिए। आप हमारे सब कर्मों के जाननेवाले हैं, अतः हमारे कुटिल पाप को हटा दीजिए। हम आपको अतिशय भक्तिभाव से बार-बार नमन करते हैं।

इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य ने नमस्य और नमस्कर्ता का, उपास्य और उपासक का अर्थात् प्रार्थ्य तथा प्रार्थयिता का अनेक प्रकार से पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। प्रार्थयिता पापी है, प्रार्थनीय पापों को जाननेवाला और दूर करनेवाला है। परमेश्वर क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट है, जबकि प्रार्थयिता जीव उनमें बुरी तरह लिप्त है। एक जीवात्मा कर्मफल-भोक्ता है जबकि दूसरा परमेश्वर उसके भोग की व्यवस्था करनेवाला है। एक ले-चलनेवाला पथ-प्रदर्शक है, दूसरा तदनुयायी है। इस प्रकार यहाँ ईश्वर और जीव में द्वैधभाव स्पष्ट है।

२०—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति ॥

—तैत्ति० उप० ३-१

शांकरभाष्य—यतो यस्माद्वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन

जातानि जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति वर्धन्ते । विनाशकाले च यत्प्रयन्ति यद् ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्यमेव प्रतिपद्यन्ते । तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्व विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व, तद् ब्रह्म ।

भाषार्थ—जिससे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं । जिसके आश्रय से वे जीवित रहते—प्राण धारण करते अर्थात् वृद्धि को प्राप्त करते—होते तथा प्रलयकाल के उपस्थित होने पर जिसमें वे प्रवेश करते हैं, उसे जानने की इच्छा करो । वह ब्रह्म है ।

दृश्यमान जगत् को वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भूतेन्द्रियात्मक अर्थात् भूतस्वरूप तथा इन्द्रियस्वरूप बताया है— ‘प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्’ (योगसूत्र २-१८) । ‘भूत’ पद से पाँचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उनके कारण ‘तन्मात्र’ अभिप्रेत हैं । ‘इन्द्रिय’ पद से पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय और आन्तर इन्द्रिय मन तथा अन्तःकरण का ग्रहण होता है । इस प्रकार प्राणि-अप्राणिरूप समस्त जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण ब्रह्म है । फिर कहा गया है—उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर । यह निर्देश किसे किया गया है ? अर्थात् यहाँ जिज्ञासु कौन है ? निश्चय ही वह जिज्ञासु ब्रह्म से भिन्न चेतनसत्ता है । वही जीवात्मा है । इस प्रकार उपनिषद् के इस मन्त्र में जगद्रूप प्रकृति, प्रकृति को जगद्रूप देनेवाले ईश्वर और जगत् का उपभोग करनेवाले तथा ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाले जीव, तीनों सत्ताओं का स्पष्ट उल्लेख है ।

२१— स ईक्षत लोकान्सृजा इति । स इमाल्लोकानसृजत ।

—ऐत० १-१-२

शांकरभाष्य—स सर्वज्ञस्वभाव्याद् आत्मा एक एव सन्नीक्षत । केनाभिप्रायेणेत्याह—लोकान् अम्भः प्रभृतीन् प्राणिकर्मफलोपभोगस्थान-भूतान् सृजै सृजेऽहमिति । स आत्मेमाल्लोकानसृजत सृष्टवान् ।

भाषार्थ—सर्वज्ञस्वभाव होने के कारण उस आत्मा ने अकेले होते हुए ही ईक्षण (चिन्तन) किया । उसने किस अभिप्राय से ऐसा किया ?

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

७१

इस पर श्रुति कहती है—‘मैं प्राणियों के कर्मफलोपभोग के आश्रयभूत अम्भ आदि लोकों की रचना करूँ’ इस प्रकार ईक्षण किया। उस (परम) आत्मा ने इन लोकों की रचना की।

शास्त्रों में सर्गरचना से पूर्व अभिध्याय—संकल्प वा कामना या ईक्षण के रूप में उल्लेख मिलता है। इस अभिध्या या इच्छा के लिए कर्ता और कर्म दोनों की अपेक्षा है। ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते, अर्थात् एक ही तत्त्व कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। यह अभिध्यान जैसे अभिध्याता की अपेक्षा करता है वैसे ही अभिध्यातव्य की भी। तात्पर्य यह कि जैसे संकल्प का करनेवाला (कर्ता) है, वैसे ही संकल्प का कोई विषय (कर्म) भी होना चाहिए। संकल्प का कर्ता निश्चय ही ब्रह्म है। तब संकल्प का कर्म अथवा विषय क्या है? ब्रह्म स्वयं संकल्प का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में उसे स्वयं ही जगद्रूप में परिणत होने से परिणामी मानना होगा। इसलिए जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म के संकल्प का विषय उससे भिन्न प्रकृति है जो ईक्षण द्वारा बहुरूप हो जाती है। इस प्रकार सृष्टिकर्ता ब्रह्म अपनी कृति जगत् और उसके मूल उपादान प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्म के विषय में तो शंकराचार्य की घोषणा है—“इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम्।” (शा० भा० १-१-४) अर्थात् ब्रह्म तो परमार्थ में कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब विक्रियाओं से शून्य, नित्यतृप्त, अवयवरहित एवं ज्योतिस्वरूप है। इन लक्षणों से युक्त ब्रह्म भला नित्य परिवर्तनशील भौतिक जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है? यदि होगा तो निश्चय ही यह जगत् भी इन्हीं लक्षणों से युक्त होगा, क्योंकि शंकर के मत में कारण और उसके कार्य में अनन्यभाव है। शंकर ने उक्त गुणों को ब्रह्म का स्वभाव बताया है और स्वभाव के विषय में उनके दादागुरु गौडपाद का कथन है—

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।

प्रकृतेरन्यथा भावो न कथञ्चिद् भविष्यति ॥

—गौडपादीय कारिका ३-२१

किसी भी अवस्था में स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता । इसलिए अविकारी ब्रह्म विलक्षण जगत् का कर्ता या निमित्तकारण ही हो सकता है, कर्म या उपादान नहीं ।

यदि प्रकृति के सहयोग के बिना ही ब्रह्म जगद्रूप हो सकता तो उपनिषत्कार उक्त सन्दर्भों में 'इदं सर्वमसृजत्' के स्थान में 'इदं सर्वमभवत्' अर्थात् 'असृजत्' के स्थान में 'अभवत्' क्रियापद का प्रयोग करते ।

फिर जगद्रचना का प्रयोजन (न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते) स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं—सृष्टि की रचना प्राणियों के कर्मफलोपभोग के लिए की गई है । फलोपभोग का कर्ता जीवात्मा है । इस प्रकार शंकर युक्तिपूर्वक ईश्वर, जीव और प्रकृति—तीनों की सत्ता को स्वीकार करते हैं ।

भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत के अन्तर्गत भीष्मपर्व के २५वें से ४२वें अध्याय तक के १८ अध्यायों का नाम है। महाभारत को व्यास की रचना माना जाता है, परन्तु वर्तमान में उपलब्ध महाभारत के रचयिता व्यास नहीं हैं। वस्तुतः व्यास ने तो वर्तमान में प्रचलित एक लाख श्लोकों के महाभारत का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने तो ८-१० हजार श्लोकों का 'जय' नाम का ग्रन्थ बनाया था। कालान्तर में उसमें प्रक्षेप होते गए और उसका कलेवर बढ़ता गया। कब, किसने, कहाँ और कितना प्रक्षेप किया, इसका निश्चय करने के लिए कोई आधार न होने के कारण विद्वान् इसमें एकमत नहीं हैं। तथापि इतना निश्चित है कि ये प्रक्षेप समय-समय पर अनेक विद्वानों द्वारा हुए हैं। संस्कृत-साहित्य में कृतभूरिश्रम प्रामाणिक विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वर्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन कर्त्ता माने हैं। 'जय' का व्यासरचित होना निर्विवाद है। व्यास के ही एक शिष्य वैशम्पायन ने कुछ श्लोक बढ़ाकर 'जय' को 'भारत' नाम दिया। उनके भारत की श्लोक-संख्या चौबीस हजार बताई जाती है। तत्पश्चात् सौति ने ७६ हजार श्लोक मिलाकर उसे महाभारत के नाम से प्रतिष्ठित किया। सौति कथावाचक थे। महाभारत के सभी आख्यान उन्हीं के लिखे माने जाते हैं। सम्भव है श्रोताओं के मनोरंजन के लिए आख्यानों की रचना करते समय उन्होंने सिद्धान्तों का ध्यान न रक्खा हो। श्रोताओं के साथ हुए प्रश्नोत्तरों के कारण भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हो सकती हैं। पूर्वापर-विरोधी और शास्त्र-विरोधी सभी बातों को निश्चित प्रमाणों के अभाव

में सौति के सिर भी नहीं मढ़ा जा सकता, अतः विवश हो यही मानना पड़ता है कि विभिन्न कालों में विभिन्न लोग प्रक्षेप करते रहे हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार साम्प्रदायिक लोग अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वैसे ही प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं।

सम्प्रति हमारा प्रतिपाद्य विषय महाभारत न होकर भगवद्गीता तक सीमित है, और महाभारत का यह भाग मूलतः व्यासरचित है। इस विषय में लोकमान्य तिलक का कहना है—

“वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। यह सर्वथा नई रचना नहीं है। तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कोई हेर-फेर नहीं किया होगा।”

—गीता रहस्य, प० ५२५

प्रक्षेप से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित है कि प्रक्षेप किसी पर्व अथवा अध्यायविशेष में सीमित नहीं रहा होगा, वह समूचे महाभारत में यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ होगा। वर्तमान में प्रचलित गीता को महाभारत से निकालकर एक पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप देने का श्रेय आदि शंकराचार्य को है। यदि वर्तमान में प्रचलित लक्षश्लोकी महाभारत मूलतः केवल आठ-दस हजार श्लोकों का था तो एक लाख श्लोकों के महाभारत में समाविष्ट सात सौ श्लोकों की गीता का ६०-७० श्लोकों में होना क्या युक्तियुक्त नहीं है?

प्रक्षेपों के कारण अनेक व्यक्तियों की रचना हो जाने से गीता में परस्पर-विरोधी, पुनरुक्त तथा प्रसंग-विरुद्ध वचनों की भरमार है। वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास द्वारा सम्पादित योगिराज श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में इस प्रकार के दोष ढूँढने पर भी नहीं मिलने चाहिए। फिर भी वर्तमान में प्रचलित गीता में ये दोष अनेकत्र मिलते हैं। इसके लिए न श्रीकृष्ण दोषी हैं और न वेदव्यास। इसके

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

७५

लिए दोषी हैं अज्ञातकुलशील वे विद्वान्, जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की पुष्टि के लिए समय-समय पर मनमाने प्रक्षेप करके गीता के कलेवर को घटाते बढ़ाते रहे हैं।

प्रक्षिप्त श्लोकों की भरमार के कारण गीता में से किसी एक निर्णीत दार्शनिक सिद्धान्त को ढूँढ निकालना ही कठिन है। फिर साम्प्रदायिक लोगों ने अपने-अपने मत की पुष्टि करने के लिए जिस प्रकार खींच-तान करके भिन्न-भिन्न भाष्य किये हैं उनके कारण यह कार्य और भी कठिन हो गया है। नास्तिक मतों का प्रत्याख्यान करने के लिए शंकराचार्य ने जिस जल्प का सहारा लिया, उसके वशीभूत होकर उन्हें अपने मन्तव्यों का गला घोटकर स्थिति के अनुरूप गीता का भाष्य करना पड़ा। परिणामतः जैसे गीता में सर्वत्र एक विचार नहीं मिलता, वैसे ही उसपर किये शंकर के भाष्य में भी किसी एक निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयोजन गीता की जाँच-पड़ताल करके उसे अपने मूलरूप में प्रस्तुत करना न होकर, उसमें द्वैताद्वैत के सन्दर्भ में शंकराचार्य के मन्तव्य का विवेचन करना है। सम्प्रति हम गीता के उसी पाठ (Text) को मानने के लिए विवश हैं जिसपर आचार्य शंकर ने अपना भाष्य लिखा है। इसलिए यहाँ हम अपने विषय से सम्बन्धित कतिपय श्लोकों पर ही विचार कर रहे हैं। वेदान्तदर्शन और गीता, दोनों महर्षि वेदव्यास की रचनाएँ हैं, परन्तु जहाँ गीता में समय-समय पर अनेक साम्प्रदायिक विद्वानों ने अपने मन्तव्यों का प्रक्षेप किया है, वहाँ वेदान्तदर्शन में ऐसा नहीं हुआ है। इसलिए गीता में प्रस्तुत विचार वेदान्तदर्शन के विपरीत नहीं होने चाहिएँ,— प्रकृत विषय में यह हमारे चिन्तन का आधार रहा है। जहाँ कहीं भी ऐसा है, वह सर्वथा अमान्य है।

१— न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

२-१२

शांकरभाष्य—न तु एव जातु कदाचिद् अहं न आसं किन्तु आसन् एव, अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु नित्यम् एव अहम् आसम् इति अभिप्रायः । तथा न त्वं न आसीः किन्तु आसीः एव । तथा न इमे जनाधिपाः न आसन् किन्तु आसन् एव । तथा न च एव न भविष्यामः, किन्तु भविष्याम एव सर्वे वयम् अतः अस्माद् देहविनाशात् परम् उत्तर-काले अपि, त्रिषु अपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेण इति अर्थः ।

भाषार्थ—किसी काल में मैं नहीं था, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था । अर्थात्, भूतपूर्व शरीरों की उत्पत्ति और विनाश होते हुए भी मैं सदा ही था । वैसे ही तू नहीं था सो भी नहीं किन्तु अवश्य था । ये राजागण नहीं थे, सो नहीं, किन्तु वे भी अवश्य थे । इसके बाद अर्थात् इन शरीरों का नाश होने के बाद भी हम सब नहीं रहेंगे, सो नहीं, किन्तु अवश्य रहेंगे । अभिप्राय यह है कि तीनों कालों में आत्मरूप से सब नित्य हैं ।

इस श्लोक में गीताकार ने बच्चों को पढ़ाने-सिखाने की शैली में अस्मद्-युष्मदादि भेद से 'अहम्', 'त्वम्' तथा 'इमे' का पृथक्-पृथक् निर्देश करने के उपरान्त 'वयं सर्वे' का प्रयोग करके जीवात्माओं के अनेक होने के साथ-साथ उनके नित्यत्व की भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पुष्टि कर दी है । 'ऐसा कोई समय न था और न होगा जब मैं, तू या ये राजा लोग नहीं थे या नहीं होंगे'—इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि यहाँ प्रत्येक जीवात्मा को न केवल एक-दूसरे से भिन्न, अपितु सृष्टि का समसामयिक बताया है ।

रामानुज ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—“इस श्लोक से सिद्ध है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर तथा 'तू और ये राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, यदि पहले (अतीतकाल में) थे, और आगे भी रहनेवाले हैं, तो परमात्मा और जीवात्मा दोनों ही पृथक्, स्वतन्त्र तथा नित्य हैं ।” ‘श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ देखें कि यहाँ भगवान् स्वयं अर्जुन = जीवात्मा को अपने बराबर बिठाकर भी 'अहम्' 'त्वम्' तथा 'इमे' का

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

७७

निर्देश करके तीनों के पृथक्त्व की घोषणा कर रहे हैं। सबको सृष्टि का समसामयिक बतलाकर जीवात्मा के परमात्मा का अंश होने का निषेध कर रहे हैं, क्योंकि 'अंश' को पूर्ण से पृथक् होने में काल की अपेक्षा है। जो कटकर बनता है वह अनादि नहीं होता। इसलिए समसामयिक जीवात्मा कभी नित्य परमात्मा का अंश नहीं हो सकता।

२— बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

४-५

शांकरभाष्य—बहूनि मे व्यतीतानि अतिक्रान्तानि जन्मानि तव च हे अर्जुन तानि अहं वेद जाने सर्वाणि न त्वं वेत्थ जानीषे, धर्माधर्मादि-प्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्। अहं पुनः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद् अनावरणज्ञानशक्तिः इति वेद अहं हे परन्तप।

भाषार्थ—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता, क्योंकि पुण्य-पाप आदि के संस्कारों से तेरी ज्ञान-शक्ति आच्छादित है। परन्तु मैं तो नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाववाला हूँ, इस कारण मेरी ज्ञान-शक्ति आवरणरहित है, इसलिए हे परन्तप ! मैं सब-कुछ जानता हूँ।

श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है कि दोनों के अनादि-अनन्त होने से मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं। परन्तु मैं योगज सामर्थ्य (द्रष्टव्य योगदर्शन) से उनके विषय में जानता हूँ। तुम नहीं जानते। यदि 'मैं' से श्रीकृष्ण का परमेश्वर होना अभिप्रेत हो (जैसा कि कुछ लोग मानते हैं) तो भी श्रीकृष्णरूप परमात्मा से अर्जुनरूप जीवात्मा का भिन्न होना प्रमाणित होता है। प्रकारान्तर से परमात्मा के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि गुणों से तथा जीवात्मा के अल्पज्ञ, अल्पशक्ति आदि गुणों से युक्त होने से दोनों में भेद सिद्ध है।

३— त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

७-१३

शांकरभाष्य—त्रिभिः गुणमयैः गुणविकारैः रागद्वेषमोहादिप्रकारैः

भावैः पदार्थैः एभिः यथोक्तैः सर्वमिदं प्राणिजातं जगत् मोहितं अविवेकताम् आपादितं सत् न अभिजानाति माम् एभ्यो यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तं विलक्षणं च अव्ययं व्ययरहितं जन्मादि-सर्वभावविकारवर्जितम् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—गुणों में विकाररूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों भावों से अर्थात् उपर्युक्त राग, द्वेष और मोह आदि पदार्थों से यह समस्त जगत्—प्राणिसमूह मोहित हो रहा है अर्थात् विवेकशून्य हो गया है, अतः इन-इन उपर्युक्त गुणों से अतीत—विलक्षण, अविनाशी तथा जन्मादि सम्पूर्ण भावविकारों से रहित मुझ परमात्मा को नहीं जानता ।

यहाँ भी तीनों सत्ताओं का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—एक जीवात्मा का जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से मोहित होने से परमात्मा को नहीं जानता । दूसरे—परमात्मा का जो विकाररूप सात्त्विक-राजस-तामस भावों से असम्पृक्त तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त है और जिसे अविवेकी जीवात्मा नहीं जानता । तीसरे—उन प्राकृत भावों का जिनसे यह प्राणिसमूह मोहित है । इस प्रकार यहाँ ज्ञेय परमात्मा का, ज्ञाता जीवात्मा का तथा ज्ञान में बाधक भावों = पदार्थों का स्पष्टतः उल्लेख है । यही बात किञ्चिद् भिन्न शब्दों में १४-१५ श्लोकों में कही गई है ।

४— मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्तितत्त्वतः ।

७-३

शांकरभाष्य—मनुष्याणां मध्ये सहस्रेषु अनेकेषु कश्चिद् यतति प्रयत्नं करोति सिद्धये सिद्ध्यर्थम्, तेषां यततामपि सिद्धानां सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते तेषां कश्चिद् एव मां वेत्ति तत्त्वतो यथावत् ।

भाषार्थ—हज़ारों मनुष्यों में कोई एक ही मोक्षलाम के लिए प्रयत्न करता है, और उन यत्न करनेवालों में भी कोई एक ही यथार्थ में जान पाता है ।

यहाँ भी ज्ञेय परमात्मा का तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाले

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

७९

जीवचेतन का—कर्तृ-कर्म-भेद से द्वैत सिद्ध है ।

५— ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १५-७

शांकरभाष्य—मम एव परमात्मनः अंशो भागः एकदेश इति जीवलोके जीवानां लोके संसारे जीवभूतो भोक्ता कर्ता इति प्रसिद्धः सनातनः । ननु निरवयवस्य परमात्मनः कुतः अवयव एकदेशः अंश इति । सावयवत्वे च विनाशप्रसङ्गः अवयवविभागात् ।

भाषार्थ—संसार में जो जीवरूप भोक्ता कर्ता इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, वह मेरा ही सनातन अंश है । किन्तु अवयवरहित परमात्मा का अवयव, अंश अथवा एकदेश कैसे हो सकता है ? और यदि उसे अवयवयुक्त मानें तो उन अवयवों का विभाग होने से परमात्मा के नाश की स्थिति आ जाएगी ।

परन्तु 'सनातन' शब्द के कथन से यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव ब्रह्म का अंश नहीं है । अंश कालातीत नहीं होता । कभी-न-कभी सम्पूर्ण इकाई से कटकर ही वह अस्तित्व में आता है । जो कटकर बनता है, वह अनादि नहीं हो सकता । गीता के उक्त वचन में 'अंश' कहकर भी उसके सनातन व नित्य होने का निषेध नहीं किया है । जो नित्य है वह अंश नहीं हो सकता । इसलिए यदि कहीं ब्रह्म-जीव के अंशांशिभाव की कल्पना करके इनके अभेद का उल्लेख मिलता है, तो उसे मात्र औपचारिक समझना चाहिए । इसलिए शंकर ने भी इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाया कि 'जीव, अंश के समान अर्थात् अंश-जैसा' है—

अंश इवांशो न हि निरवयवस्य मुख्योऽंशः सम्भवति ।

—ब्रह्मसूत्रभाष्य २ । ३ । ४६

This does not mean that the supreme is capable of division or partition into fragments

—Radhakrishnan.

समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। यदि समुद्र खारा है तो उसके जल की एक-एक बूँद खारी होगी। चीनी का एक-एक दाना मीठा और नमक का एक-एक दाना अनिवार्यतः नमकीन होगा। यदि जीव ब्रह्म का अंश होता तो उसमें अंशी ब्रह्म के सभी गुण पाये जाते। परन्तु ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, निश्चिन्तित्व आदि गुण जीव से और जीव के अल्पज्ञता, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण ईश्वर से भिन्न हैं। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं कि जैसे जीवात्मा संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता—“यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति”।—ब्रह्मसूत्रभाष्य २-३-४६

वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकती।



राजमार्ग से हटकर नई लीक डालना स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की विशेषता है। प्रस्तुत रचना उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। आदि जगद्गुरु शंकराचार्य को नवीन वेदान्त का प्रवर्तक माना जाता है। वस्तुतः शंकराचार्य और अद्वैत वेदान्त पर्यायवाची बन गए हैं। परन्तु स्वामी विद्यानन्द जी की मान्यता है कि शंकर मूलतः वेदान्ती या अद्वैतवादी नहीं थे। उनके अनुसार उनकी मान्यता का संकेत सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास के अन्तर्गत ऋषि दयानन्द के इन शब्दों में मिलता है—“अब विचारना चाहिए कि जो जीव-ब्रह्म की एकता शंकराचार्य का निजी मत था तो वह अच्छा नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत को स्वीकार किया तो कुछ अच्छा है।” इस लेख से प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द इस बात को सहन करने के लिए सर्वात्मना तैयार नहीं थे कि शंकर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने आ रहे हैं वे शंकर के निजी विचार रहे होंगे।

जैन व बौद्ध मत के खण्डन की भावना से भी ऐसा मत स्वीकार करने की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। स्वामी विद्यानन्द जी ने जोरदार इम परिणाम से निष्कर्ष निकाला कि “जो ब्रह्म की एकता शंकराचार्य का निजी मत था तो वह अच्छा नहीं। जो जैनियों को परास्त कर उनके मत की रक्षा करने के लिए कुछ अच्छा करने का अपना मत अपनाता था।” ऐसा कहते हैं। स्वामी विद्यानन्द जी का कहना है, शंकराचार्य अपने वेदान्त दर्शन (श. ३। १६) के भाष्य में यह कदापि न लिखते—“यथा जीवः संसार-दुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति” अर्थात् जैसे जीवात्मा संसार के सुख-दुःख का अनुभव करता है, वैसे परमात्मा अनुभव नहीं करता। इसे पढ़ने के बाद ऋषि दयानन्द अथवा अन्य कोई कैसे मान सकता है कि जी-ब्रह्म की एकता शंकराचार्य का निजी मत था? स्वामी विद्यानन्द जी ने अपनी मान्यता की पुष्टि में शंकराचार्य के ग्रन्थों से अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के सप्तम, नवम तथा एकादश समुल्लास में नवीन वेदान्त का जोरदार खण्डन किया। इतने से सन्तुष्ट न होकर उन्होंने ‘वेदान्ति-ध्वान्तनिवारण’ तथा ‘अद्वैत मत खण्डन’ नाम से दो स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने यह सब इसलिए किया कि वह इसे अवैदिक मत मानते थे। परन्तु इन सबके होते हुए भी शंकराचार्य के प्रति ऋषि के विचार बड़े कोमल तथा आत्मीयता की भावना को ध्वनित करते हैं। उन्हें ‘वेदमत की स्थापना’ और ‘वेदमत का प्रचार’ करनेवाला कहते हैं। राजा सुख्वा द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ के सन्दर्भ में कहते हैं कि ‘शंकर का पक्ष वेदमत का स्थापन’ था। अन्य अवैदिक मतों के प्रवर्तकों के प्रति अपनाये गये तेवर शंकराचार्य के सन्दर्भ में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ते। इस पक्षपात के मूल में ऋषि के मन में बैठी यह भावना रही होगी कि शंकर के अन्तःस्थल में भी वेद वा द्वैतवाद ही बद्धमूल था और अद्वैतवाद को उन्हें जैनमत के खण्डन के लिए परिस्थितिवश अपनाया पड़ा था। मूलतः वे वेदान्ती नहीं थे।



विजयकुमार गोविन्दराम हासनन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.